

बौर सेवा मन्दिर
दिल्ली



क्रम संख्या

काल नं.

वर्ष

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

वाचना प्रसुति

आचार्य तुलसी

जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा
आगम-अनुशीलन प्रन्थ-माला
प्रन्थ-१

दृशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

वाचना प्रमुख
आचार्य तुलसी

विवेचक और सम्पादक
सुनि नथमल

प्रकाशक
जैन इवेताम्बर तेरापन्थी महासभा
आगम-साहित्य प्रकाशन समिति
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-१

प्रबन्ध-तथा स्थापक :

धीरुन्द रामपुरिया, बी० कॉम, बी० एल०

संयोजक :

आगम-साहित्य प्रकाशन समिति

जैन इवेताम्बर तेरापन्थी महासभा

धारक :

आदर्श साहित्य संघ

चूरू (राजस्थान)

आर्थिक-सहायक :

सरावगी चेरिटेबिल फण्ड

७, राऊन रोड, कलकत्ता

प्रकाशन तिथि :

माघ महोत्सव

मार्गशीर्ष शुक्रा, सप्तमी २०२३

प्रति-संलग्न :

११००

पृष्ठांक :

२६०

मूल्य :

५)

मुद्रक :

रोशन आर्ट प्रिन्टिंग प्रेस,

कलकत्ता

श्रन्थानुक्रम

१. समर्पण
२. अन्तस्तोष
३. प्रकाशकीय
४. सम्पादकीय
५. विषयानुक्रम
६. समीक्षात्मक अध्ययन

परिशिष्ट

१. चूर्णि की परिभाषाएँ
२. प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

समर्पण

विलोक्य आगम दुःख मेव,
लहूं सुलहूं जबणीय मच्छुं ।
सञ्जभाष-सञ्जभाष-रथस्स निच्छं,
जयस्स तस्स व्यणिहाण पुष्ट्वं ॥

जिसने आगम-दोहन कर कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत ।
ध्रुत-सद्ध्यान लोन चिर चिन्तन,
जयाचार्य को विमल भाव से ॥

विनयाकन्त
आचार्य तुलसी

अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है, उस माली का जो अपने हाथों से उस और सिचित दुम-निकुंज को पछावित, पुष्टित और फलित हुआ देखता है, उस कलाकार का जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नों से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन-आगमों का शोध-पूर्ण सम्पादन हो और मेरे वीवन के बहुश्रमी क्षण उसमें लगें। संकल्प फ़लवान् बना और वैसा हो हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा धर्म-परिवार उस कार्य में संलग्न हो गया। अतः मेरे इस अन्तस्तोष में मैं उन सबको समझागी जिनाना आहुता हूँ, जो इस प्रवृत्ति में संविभागी रहे हैं।

विदेशक और सम्पादक

मुनि नथमल

सहयोगी : मुनि दुलहराज

संविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिन-ने इस गुरुतर प्रवृत्ति में उन्मुक्त भाव से अपना संविभाग समर्पित किया है, उन सबको मैं आशोर्कद देता हूँ और कामना करता हूँ कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

—आचार्य तुलसी

प्रकाशकीय

“वृश्चिकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन”—‘आगम-अनुशोलन प्रन्थ-माला’ के प्रबन्ध प्रन्थ के रूप में पाठकों के हाथों में है। इस ग्रन्थ-माला में एक के बाद एक सभी आगमों के समीक्षात्मक अध्ययन प्रकाशित करने की योजना है। आगम एवं उनके व्याख्या प्रन्थों के गम्भीर अध्ययन से मार्तीय आध्यात्मिक-स्तर, संस्कृति, इतिहास, पुरातत्त्व आदि की जो बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध होती है, उसका यह ग्रन्थ एक नमूना है। आगम-साहित्य प्रकाशन की विस्तृत योजना में ऐसे संस्करणों का बनाना एक बहुपम स्थान है, इसे कोई वस्त्रीकार नहीं कर सकता।

विद्युज्ञन एवं साधारण जनता को लक्ष्य में रखते हुए आगम-साहित्य संशोधन कार्य को छँग ग्रन्थ-माला के रूप में व्यक्ति करने का उपक्रम बाबना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी ने अपने बलिष्ठ हाथों में लिया है। ग्रन्थ-मालाओं की परिकल्पना निम्न प्रकार है :

१—आगम-मुक्त ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के मूलपाठ, पाठान्त्र,

शब्दानुक्रम आदि होंगे।

२—आगम-ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के मूलपाठ, पाठान्त्र,

संस्कृत-स्थाया, हिन्दी अनुवाद, पदानुक्रम या सूचानुक्रम आदि होंगे।

३—आगम-अनुसन्धान ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के टिप्पण होंगे।

४—आगम-अनुशोलन ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के समीक्षात्मक अध्ययन होंगे।

५—आगम-कथा ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों से सम्बन्धित कथाओं का संकलन होगा।

६—वर्गीकृत-आगम ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के वर्गीकृत और संक्षिप्त संस्करण होंगे।

परम अद्देय आचार्य श्री तुलसी और उनके विद्वान सांखु-सांख्यी गण जगत अथवा परिग्रामशोलका और संशोधक दृति से योजना की परिपूर्ति में जुटे हुए हैं।

इस योजना की परिसीमा में दशवेकालिक (भाग-२) संशोधित मूलपाठ, संस्कृत-स्थाया, हिन्दी अनुवाद और विस्तृत टिप्पणियों सहित डबल डिमार्ई ने साइज के ८०० पृष्ठों के बृहदाकार में प्रकाशित किया जा चुका है। आज तक प्रकाशित दशवेकालिक के संस्करणों में जेन-विजेन विद्वानों ने उसे मुक्त रूप से सर्वोच्च कोटि का स्वीकार किया है। बाबना प्रमुख आचार्य श्री की देवत-रेत में होने वाले कार्य की महत्ता इसी से जांकी जा सकती है।

अन्य ग्रन्थ, जो इसके साथ ही प्रकाशित हो रहे हैं, निम्न प्रकार हैं :

१—दशवेकालिक तह उत्तरज्ञानगणि

(आगम-मुत्त ग्रन्थ-माला का प्रथम ग्रन्थ)

२ - षष्ठं-प्रज्ञानि, खण्ड-१ : दशवेकालिक वर्णकृत

(वर्णकृत-आगम ग्रन्थ-माला का प्रथम ग्रन्थ)

निम्नलिखित ग्रन्थ मुद्रण में हैं :—

१—उत्तरज्ञान : मूल, सकृत-छाया, हिन्दी प्रनुवाद आदि युक्त संस्करण ।

(आगम-ग्रन्थ-माला का प्रथम ग्रन्थ)

२—आगारा :

(आगम-मुत्त ग्रन्थ-माला का द्वितीय ग्रन्थ)

पाण्डुलिपि प्रणयन :

प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि का प्रणयन आदर्श माहित्य संघ द्वारा हुआ है । पाण्डुलिपि महाभाग्य को प्रकाशनार्थ प्रदान कर संघ ने जिस उदासना का परिचय दिया है, उसके लिए आगम-साहित्य प्रकाशन समिति अपनो हार्दिक कृजना जनित करती है । आर्थिक योग-दान ।

इस ग्रन्थ के मुद्रण-चर्चे का भार श्री रामकृष्णारजी सरावणी की व्येषणा से श्री सरावणी चेरिटेबल फण्ड, कलकत्ता, जिसके थोप्पारेलालजी सरावणी, गोविन्दलालजी सरावणी, मउबनकृष्णारजी सरावणी एवं कमलनराजी सरावणी द्वार्दो हैं, ने बहुत किया है ।

श्री सरावणी चेरिटेबल फण्ड का यह आर्थिक प्रयोग इवगत पुत्र पन्नालालजी सरावणी (सदस्य भारतीय लोक सभा) की स्मृति में प्राप्त हुआ है । स्व० महादेवलालजी सरावणी तेरापंच-सम्प्रवाय के एक अप्रमण्य आषक्त थे और कलकत्ता के प्रसिद्ध प्रविष्टान महादेव रामकृष्णार से सम्बन्धित थे । स्व० पन्नालालजी सरावणी महासभा एवं साहित्य प्रकाशन समिति के बड़े उत्साही एवं प्राणशर्त् सदस्य रहे । आगम-प्रकाशन योजना में उनकी आरम्भ से ही अभियन्ति रही ।

उक्त योगदान के प्रति हम उक्त फण्ड के द्रम्यांग के प्रति हार्दिक कृजना प्रणट करते हैं ।

आगम-साहित्य प्रकाशन को व्यवस्था के लिए महासभा द्वारा सन् १९६५ में सर्वथी मदनचन्द्रजी गोठी, मांहनलालजी बौंठिया 'बबल', गोविन्दरामजी सरावणी, खेपचन्द्रजी सेठिया एवं श्रीवंद रामदुर्दिया जी आगम-वाहूद्वय प्राप्तादा समिति गठित की गई थी, जिसकी व्यवधि पाँच वर्ष ही रखी गई । हरे लिखते हुए परम खेद ही रहा है कि हमारे आन्य साथी एवं नरामरण श्री मदनचन्द्रजी गोठी हमारे बीच नहीं

रहे। इस अवसर पर हम उनकी अपूर्व सेवाओं को याद किये बिना तभी रह सकते। उनकी स्मृति से आज भी हृदय में बल का संचार होता है।

इस प्रथ के सम्मान में जिन-जिन विद्वानों द्वयों प्रकाशन-संस्थाओं के प्रत्यक्ष प्रकाशनों का उपयोग हुआ है, उन सबके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रणट करते हैं।

१५, नूरगढ़ लोहिया लेन,
कलकत्ता-७
८-२, ६७

श्रीचन्द्र रामपुरिया
संयोजक
आगम-साहित्य प्रकाशन समिति

सम्पादकीय

सम्पादन का कार्य सरल नहीं है—यह उन्हें सुविदित है, जिन्होंने इस दिशा में कोई प्रयत्न किया है। दो-दोहरा हजार वर्ष पुराने प्रन्थों के सम्पादन का कार्य और भी अटिल है, जिनकी भाषा और माव-धारा आज की भाषा और माव-धारा से बहुत अवश्यान पा चुकी है। इतिहास की यह अपवाद-शून्य गति है कि जो विचार या आचार जिस आकार में आरब्ध होता है, वह उसी आकार में स्थिर नहीं रहता। या तो वह बड़ा हो जाता है या छोटा। यह हास और बिकास की कहानी ही परिवर्तन की कहानी है। और कोई भी आकार ऐसा नहीं है, जो कृत है और परिवर्तनशील नहीं है। परिवर्तनशील घटनाओं, तथ्यों, विचारों और आचारों के प्रति अपरिवर्तन-शीलता का आग्रह मनुष्य को असत्य की ओर ले जाता है। सत्य का केन्द्र-बिन्दु यह है कि जो कृत है, वह सब परिवर्तनशील है। अहंत या शाश्वत भी ऐसा क्या है, जहाँ परिवर्तन का स्पर्श न हो। इस विद्व में जो है, वह वही है, जिसकी सत्ता शाश्वत और परिवर्तन की धारा से सर्वथा विभक्त नहीं है।

शब्द की परिधि में बंधने वाला कोई भी सत्य क्या ऐसा हो सकता है, जो तीनों कालों में समान रूप से प्रकाशित रह सके? शब्द के अर्थ का उत्कर्ष या अपकर्ष होता है—भाषा शास्त्र के इस नियम को जानने वाला यह आग्रह नहीं रख सकता कि दो हजार वर्ष पुराने शब्द का आज वही अर्थ सही है, जो आज प्रचलित है। 'पाषण्ड' शब्द का जो अर्थ आगम-धन्यों और वाशोक के शिला-लेखों में है, वह आज के अमण-साहित्य में नहीं है। आब उसका अपकर्ष हो चुका है। आगम-साहित्य के सेकड़ों शब्दों की यही कहानी है कि वे आज अपने मौलिक अर्थ का प्रकाश नहीं दे रहे हैं। इस स्थिति में हर कोई विन्तनशील व्यक्ति अनुभव कर सकता है कि प्राचीन साहित्य के सम्पादन का काम कितना दुरुह है।

मनुष्य अपनी शक्ति में विद्वास करता है और अपने पोरुष से खेलता है, अतः वह किसी भी कार्य को इसलिए नहीं छोड़ देता कि वह दुरुह है। यदि यह पलायन की प्रवृत्ति होती तो प्राप्य की सम्भावना नष्ट ही नहीं हो जाती किन्तु आज जो प्राप्त है वह अतीत के किसी भी क्षण में विलुप्त हो जाता। आज से हजार वर्ष पहले नवाँवी टोकाकार (ब्रह्मदेव सूरि) के सामने अत्रेक कठिनाइयाँ थीं। उन्होंने उनकी चर्चा करते हुए लिखा है :

सत्सम्प्रदायहीनत्वात्, सदूहस्व वियोगतः ।
 सर्वेऽपरशास्त्राणामहट्टेरस्मृतेश्च मे ॥ १ ॥
 वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धिः ।
 सूत्राणामतिगम्भीर्यन्मतभेदाच्च कुत्रिक्ति ॥ २ ॥

(स्थानाङ्ग वृत्ति, प्रशस्ति)

१. सत् सम्प्रदाय (अर्थ-बोध की सम्पूर्ण-परम्परा) प्राप्त नहीं है ।
 २. सत् कह (अर्थ की आलोचनात्मक कृति या स्थिति) प्राप्त नहीं है ।
 ३. स्वकीय और परकीय सर्व शास्त्रों को मैंने न देखा है और जिन्हें देखा है उनकी भी अविकल स्मृति नहीं है ।
 ४. अनेक वाचनाएँ (आगमिक अध्यापन की पढ़तियाँ) हैं ।
 ५. पुस्तक अशुद्ध है ।
 ६. कृतियाँ सूत्रात्मक होने के कारण बहुत गम्भीर हैं ।
 ७. अर्थ-विषयक मतभेद भी हैं ।
- इन सारी कठिनाइयों के उत्तर मी उन्होंने अपना प्रयत्न नहीं छोड़ा और वे कुछ कर गए ।

कठिनाइयाँ आज भी कम नहीं हैं । किन्तु उनके होते हुए भी आचार्य श्री तुलसी ने आगम-सम्पादन के कार्य को अपने हाथों में ले लिया । उनके शत्क-शाली हाथों का सर्व पाकर निराश्रण भी प्राणवान् बन जाता है तो भला आगम-साहित्य जो स्वयं प्राणवान् है, उसमें प्राण-संचार करना क्या बड़ी बात है? बड़ी बात यह है कि आचार्य श्री ने उसमें प्राण-संचार मेरी और मेरे सहयोगी साधु-साधियों की असमर्थ अगुलियों द्वारा कराने का प्रयत्न किया है । सम्पादन-कार्य में हमें आचार्य श्री का आशीर्वाद ही प्राप्त नहीं है किन्तु मार्ग-दर्शन और सक्रिय योग भी प्राप्त है । आचार्यवर ने इस कार्य को प्राथमिकता दी है और इसकी परिपूर्णता के लिए पर्याप्त समय दिया है । उनके मार्ग-दर्शन, चिन्तन और प्रोत्साहन का सम्बल पा हम अनेक दुस्तर धाराओं का पार पाने में समर्थ हुए हैं ।

आगम-सम्पादन की रूप-देखा

आगम-साहित्य के अध्येता दोनों प्रकार के लोग हैं—विद्व-वर्ग और जन-साधारण । दोनों को हटि में रख कर हमने इस कार्य को छः ग्रन्थ-मालाओं में प्रसिद्ध किया है । उसका आकार यह है :

- १—आगम-मुनि-ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के मूलपाठ, पाठान्तर, शब्दानुक्रम आदि होंगे ।
- २—आगम ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के मूलपाठ, पाठान्तर, संस्कृत-स्थाया, अनुवाद, पद्यानुक्रम या सूत्रानुक्रम आदि होंगे ।

४—आगम-अनुसन्धान ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के टिप्पण होते ।

५—आगम-अनुशीलन ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के समीक्षात्मक अध्ययन होते ।

६—आगम-कथा ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थमाला में सभी आगमों से सम्बन्धित कथाओं का संकलन होता ।

७—बर्मिंहूत-आगम ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के बर्मिंहूत और संक्षिप्त संस्करण होते ।

प्रस्तुत पुस्तक आगम-अनुशासन ग्रन्थ-माला का प्रथम ग्रन्थ है । इसमें दशवेकालिक का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । समीक्षा का पहला सूच है तटस्थिता । आचार्य श्री के सत्य-स्पर्श ऋग्वेदःकरण ने हमें तटस्थिता के प्रति दृष्टि दी है । हमने उसी से समग्र-कृति को देखा है । छद्मस्थ-मनुष्य अपने अपूर्ण-दर्शन का भागी है इसलिए वह यह गर्व नहीं कर सकता कि उसने हर तथ्य को परिपूर्ण दृष्टि से देखा है । हम भी छद्मस्थ हैं, इसलिए हम परिपूर्ण दर्शन का दुहाई नहीं कर सकते । पर हमने हर शब्द और उसके अर्थ को तटस्थिता की दृष्टि से देखने का विनम्र प्रयत्न किया है, यह कहना सत्य को अताशृत करना है ।

शोधपूर्ण सम्पादन में जहाँ लाभ है, वहाँ कठिनाइयाँ भी कम नहीं हैं । मेरे मतानुसार शोध के चार मान-दण्ड हो सकते हैं :

१—सर्वी गतः नई स्थापना ।

२—एकागतः नई स्थापना ।

३—पूर्वी स्थापना में संशोधन ।

४—पूर्वी स्थापना में विकास ।

आगम-साहित्य के सम्पादन में हमें नई स्थापना या पूर्वी स्थापना में संशोधन या विकास नहीं करना है । वह हमारी स्वतंत्र मेवा का परिणाम है । इस समय तो हमें अतीत का अनुसन्धान करना है । हमारा कार्य शोधात्मक होने की अपेक्षा अनुसन्धानात्मक विधिक है । दो हवार वर्षों की अवधि में जो विस्मृत या अपरिचित हो गया, उसका पुनः सम्धान करने में हमें स्थान-स्थान पर शोधात्मक दृष्टि का भी सहारा लेना होता है । इसीलिए इस कार्य को हम शोध-पूर्ण सम्पादन की भी संज्ञा दे देते हैं ।

कृतज्ञता

मैं आचार्य श्री के प्रति कृतज्ञ हूँ, इन शब्दों में जितना व्यवहार है, उतनी सचाई नहीं है । सचाई यह है कि मेरी हर कृति उनकी प्रेरणा-रेखा प्री का संकलन है । कृतज्ञ शब्द में इतनी सामर्थ्य नहीं कि मैं इसके द्वारा मत की सारी सचाई को प्रकट कर दूँ ।

प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादन में मुझे अपने अधिनन सहयोगी मुनि दुलहराजी का पूर्ण सहयोग रहा है परं वे नहीं चाहते कि मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करूँ ।

मुनि ताराचन्द्रजी तथा साधी मंजुलाजी ने भी यत्र-तत्र मेरा हाथ बैटाया है ।

निर्दिक्त काल से लेकर अब तक को उपलब्ध-साधन-सामग्रो से हमें दृष्टियों प्राप्त हुई हैं, हमारा कार्य-पथ सरल हुआ है, इसलिए मैं उसके प्रणेता आचार्यों व मनीषियों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

६० २०२३, भाद्रबी पूर्णिमा
बीदासर ।

—मुनि नथमल

विषयानुक्रम

प्रथम अध्याय

दशवेकालिक का वहिरंग परिचय

१—जेत आगम और दशवेकालिक	४० ३
आगम की परिभाषा	
आगम के वर्गीकरण में दशवेकालिक का स्थान	
नामकरण	
उपयोगिता और स्थापना	
२—दशवेकालिक के कर्ता और रचनाकाल	१३
रचनाकार का जीवन-परिचय	
निर्मूलण या लघुकरण	
रचना का उद्देश्य	
रचनाकाल	
३—रचना-शब्दी	१८
४—व्याकरण-विमर्श	२२
संधि	
कारक	
वचन	
समास	
प्रत्यय	
किञ्च	
किया और अर्द्धक्रिया	
किया-विशेषण	
आर्थ-प्रयोग	
विशेष-विमर्श	
क्रम-मेव	
५—भाषा की हड्डि से	३६
६—शरीर-परामर्श	४०
७—खन्द-विमर्श	४४

(भ)

८—लपमा और हृष्टान्त	४६
९—परिभाषाएँ	४६
१०—चूलिका	५०
११—दशबंकालिक और आचारांग-चूलिका (दशबंकालिक और आचारांग चूलिका के तुलना-स्थल)	५३
१२—दशबंकालिक का उत्तरवर्ती साहित्य पर प्रभाव	७२
१३—तुलना (जेन, बोद्ध और वेदिक)	७५

द्वितीय अध्याय

दशबंकालिक का अन्तर्गत परिचय

१—साधना	८३
समग्रदर्शन	
साधना के उत्कृष्ट का दृष्टिकोण	
२—साधना के लंब	८७
अहिंसा का दृष्टिकोण	
संयमी बीबन की सुरक्षा का दृष्टिकोण	
प्रबल्लन गौरव का दृष्टिकोण	
परीषह-सहन का दृष्टिकोण	
निषेध-हेतुओं का स्वूल विभाग	
विनय का दृष्टिकोण	

तृतीय अध्याय

महावृत

१—जीवों का वर्गीकरण	१११
२—संक्षिप्त व्याख्या	११४
अहिंसा और समता	
पृथ्वी जगत् और अहिंसक निर्देश	
अपूर्काय—बल	
अपूर्जगत् और अहिंसक निर्देश	
तेजस् जगत् और अहिंसक निर्देश	
वायु जगत् और अहिंसक निर्देश	
वनस्पति	

२—संक्षिप्त व्याख्या

बनस्पति जगत् और अहिंसक निर्देश

त्रस जगत् और अहिंसक निर्देश

सत्य

अचौर्य

ब्रह्मचर्य

अपरिषद्

चतुर्थ अध्याय

वर्णा-पथ

१—चर्या और विहार	१२५
२—वेग-निरोध	१२६
३—इयापथ	१२६
कैसे चले ?	
कैसे बैठे ?	
कैसे साड़ा रहे ?	
४—वाक्-शुद्धि	१३२
कैसे बोले ?	
५—एवणा	१३६
मिला की एवणा क्यों और कैसे ?	
मिला कैसे ले ?	
कैसे खाये ?	
६—हन्द्रिय और मनोनिषद्	१४२
७—दिवरीकरण	१४३
८—किस लिए ?	१४४
९—विनय	१४५
१०—दूज्य कौन ?	१४७
११—मिलु कौन ?	१४८
१२—मुनि के विशेषण	१४९
१३—मोक्ष का क्रम	१५०

पंचम अध्याय

व्याख्या-ग्रन्थों के सन्दर्भ में

१ — परिचय और परमारा	१५५
२ — व्याख्यागत प्राचीन परम्पराएँ	१५८
३ — आहार-वर्या	१६१
४ — मुनि कैसा हो ?	१६७
५ — निष्ठेष पद्धति	१७४
धर्म	
अर्थ	
अपाय	
उपाय	
आचार	
पद	
काय	
६ — निरुक्त	११२
७ — एकार्थक	११८
८ — समश्लेषा और स्कृति	२०३
गृह	
उपकरण	
भोजन	
फल	
शाक	
लाद्य	
चूर्ण और मंथु	
पुष्प	
अधूषण	
प्रसाधन	
आमोद-प्रमोद तथा मनोरंजन	
विद्वास	
रोग और चिकित्सा	
उपासना	

(८)

८—सम्यता और संस्कृति

यज्ञ

दण्ड-विधि

शिक्षा

सम्बोधन

राज्य व्यवस्था

जनपद

कास्त्र

याचना और दान

गोष

मनुष्य का स्थान

कर्तव्य और परम्परा

व्यापार यात्रा

पुस्तक

धातु

पशु

अध्ययन

व्यक्ति

सिद्धका

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय १

बहुरंग परिचय

१—जैन आगम और दशवैकालिक

आगम की परिभाषा :

ज्ञान के अनेक वर्गीकरण मिलते हैं। वे समय-समय पर हुए हैं। उनमें से तीन प्रमुख इस प्रकार हैं—

१. प्रथम वर्गीकरण के अनुसार ज्ञान के पाँच प्रकार हैं—(१) मति, (२) श्रुत, (३) अवधि, (४) मन पर्याय और (५) केवल।^१ यह प्राचीनतम् (ई० पू० ५-६ शताब्दी) प्रतीत होता है।

२. प्रमाण की भीमांसा प्रारम्भ हुई तब (ई० ५ शताब्दी) ज्ञान का दूसरा वर्गीकरण हुआ। उसके अनुसार ज्ञान के दो प्रकार हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष।^२

३. न्यायशास्त्र के विकास काल (ई० ७-८ शताब्दी) में ज्ञान का तीसरा वर्गीकरण हुआ। उसके अनुसार प्रमाण के दो प्रकार हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष।^३ प्रत्यक्ष के दो प्रकार हैं—(१) सांख्यव्याहारिक और (२) पारमार्थिक।^४ परोक्ष के पाँच प्रकार हैं—(१) स्मृति, (२) प्रत्यभिज्ञा, (३) तर्क, (४) अनुमान और (५) आगम।^५

१—उत्तराध्ययन २८।४ :

तत्पंचकिं नाणं सुयं आमिनिदोहियं ।

ओहिनाणं तु तद्यं मणनाणं च केवलं ॥

२—नंदी, सूत्र २ :

तं समाप्तो दुष्किं पण्णतं, तंजहा—पञ्चकलं च परोक्षलं च ।

३—प्रमाणशतस्त्वालोक २।१ :

तद् हिमेवं प्रत्यक्षं च परोक्षं च ।

४—वही, २।४ :

तद् हिप्रकारम् सांख्यव्याहारिकं पारमार्थिकं च ।

५—वही, ३।२ :

स्मरणप्रत्यभिज्ञातर्कानुमानागममेवतस्तप्तप्रकारम् ।

प्रथम और द्वितीय वर्गीकरण में आगम का उल्लेख नहीं है। तृतीय वर्गीकरण में उसका परोक्ष के एक प्रकार के रूप में उल्लेख हुआ है। द्वितीय वर्गीकरण की व्यवस्था हुई तब पाँच ज्ञानों को दो भागों में विभाजित किया गया—मति और श्रुति—परोक्ष^१ तथा अवधि, मन पर्याय और केवल—प्रत्यक्ष।^२ तृतीय वर्गीकरण पूर्णत व्यायशास्त्रीय था, इसलिए उसमें ज्ञान का विभाजन विशद् प्रमाण-भीमांसा की दृष्टि से किया गया। किन्तु उसका आधार वही प्राचीन वर्गीकरण था। तृतीय वर्गीकरण के परोक्ष का प्रथम वर्गीकरण में समवतार किया जाय तो मृति, प्रत्यक्षिज्ञा, तकं और अनुमान—मतिज्ञान^३ में तथा आगम—श्रुति-ज्ञान में समवतरित होता है। इस प्रकार तीनों वर्गीकरणों में प्रकार-भेद होने पर भी तात्पर्य भेद नहीं है।

प्रथम दो वर्गीकरणों और तृतीय वर्गीकरण में भी यह स्पष्ट कठिन होता है कि आगम श्रुत का ही विभिन्नता या उत्तरकालीन रूप है। श्रुत का अर्थ है—शब्द में होने वाला ज्ञान। आगम का अर्थ भी यही है। इस समानता के आधार पर ही श्रुत और आगम को एकार्थवाची कहा गया।^४ किन्तु श्रुत और आगम सर्वथा एकार्थवाची नहीं हैं। श्रुत एक सामान्य और व्यापक शब्द है। आगम का अपना विभिन्न अर्थ है। भगवती, स्यानांग और व्यवहार सूत्र में पाँच प्रकार के व्यवहार बताया गया है—(१) आगम, (२) श्रुत, (३) आज्ञा, (४) धारणा और (५) जीत। इनमें पहला आगम और दूसरा श्रुत है। केवलज्ञानी, मन पर्यायज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्थांशावीं और दशतृवीं का आगम कहा गया है। इनमें प्रथम नाम प्रत्यक्षज्ञानी जैसे नाम दा-

१-नंदी, सूत्र २४ :

परोक्षनाणं दुविहं पन्नतं, तंजहा—आभिणिदो ह्यनाण-परोक्षं च, सुप्तनाण-परोक्षं च ।

२-वृही, सूत्र ५ :

नोऽदिव्य-पञ्चकं तिविहं पण्गतं, तंजहा—ओह्नाण-पञ्चकं, मणपञ्जवनाण-पञ्चकं, केवलनाण-पञ्चकं ।

३-तत्त्वार्थ सूत्र, ११३ :

मति स्वृति संज्ञा चिन्ताऽभिनिदोष इत्यनर्थतरम् ।

४-अनुपोगद्वार, सूत्र ५१ :

५-(क) भगवती दादा ३३९ :

पंचविंशति व्यवहारे पन्नते, तंजहा—आगमे, सुए, आज्ञा, धारणा, जीए ।

(ख) स्यानांग, ४२२४२१ ।

(ग) व्यवहार १०१३ ।

परोक्षज्ञानी अर्थात् श्रुतज्ञानी है। इसके आधार पर आगम की परिभाषा यह बनती है— प्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष जैसा अविसंवादी ज्ञान आगम है। श्रुत विसंवादी भी हो सकता है पर आगम विसंवादी नहीं होता। आगम और श्रुत को भिन्न मानने का यह पृष्ठ आधार है।

कई आचार्यों ने नवपूर्वी को भी आगम माना है।^१ किन्तु उन्हीं के अनुसार चतुर्दशपूर्वी और सम्पूर्ण दशपूर्वी का श्रुत सम्पर्क ही होता है और नवपूर्वी का श्रुत मिथ्या भी हो सकता है।^२ आचार्य मलयगिरि ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—

“दशपूर्वी नियमन सम्यक्हृष्टि होने है। नवपूर्वी सम्यक्हृष्टि और मिथ्याहृष्टि दोनों ही मकरे हैं। इसलिए दशपूर्वी का श्रुत सम्पर्क ही होता है और नवपूर्वी का श्रुत मिथ्या भी हो जाता है।^३ जयाचार्य ने सम्पूर्ण दशपूर्वी द्वारा रचित शास्त्र का ही प्रामाण्य स्वीकार किया है।^४ नवपूर्वी की प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं हो सकती, इसलिए आगम-पुण्य पाँच—केवली, अविवज्ञानी, भन पर्यायज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी और दशपूर्वी—ही होने चाहिए। उनका ज्ञान नियमत अविसंवादी होता है, इसलिए वे अनुपचरित हृष्टि से ज्ञानम है।

१-(क) अबहारभाष्य, १३५ :

आगमसुयववहारी आगमतो छविहो उ बवहारो ।

केवलि भग्नोहि चोद्दस-इस-नव-नुव्वी उ नायब्बो ॥

(क्ष) भग्नवती दादा ३३९, बृत्ति :

तत्र आगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते अर्था अनेनेत्यागमः केवलमनःपर्यायावशिष्पूर्व-
चतुर्दशकदशकनवकरूपः ।

२-नंदी, सूत्र ४२ :

इच्छेद्यं दुवालसंगं गणितिं चौद्दसपुञ्जिस्त सम्मुखं, अभिष्णवसपुञ्जिस्त
सम्मुखं तेज परं भिजोमु मयणा ।

३-नंदी, सूत्र ४२, बृत्ति :

सम्पूर्णदशपूर्वधरत्वाविकं हि नियमतः सम्यग्हृत्तेरेव न मिथ्याहृष्टेः · · · · ततः
सम्पूर्णदशपूर्वधरत्वात्पश्चानुपूर्व्याः परं भिन्नेत्रु दशमु पूर्वेषु भजना-विकल्पना
कदाचित्सम्यक्श्रुतं कदाचिन्मिथ्याश्रुतमित्यर्थः ।

४-प्रह्लोदत तत्त्वबोध, १८।१२ :

सम्पूर्ण दश पूर्वधर, चतुर्दश पूर्वधर ।

तास इच्छित आगम हुवे, वाहं न्याय विचार ॥

आगम मुमुक्षु की प्रवृत्ति और निवृत्ति के निर्देशक होते हैं। उनके अभाव में मुमुक्षु को व्यवहार का निर्देश श्रुत से मिलता है। आगम की विद्यमानता में श्रुत का स्थान गोपन होता है। किन्तु उनकी अनुपस्थिति में व्यवहार का मुख्य प्रबर्तक श्रुत बन जाता है।^१ दर्शकालिक श्रुत है, इसलिए जैन साहित्य में इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

इस समय आगम-पुरुष कोई नहीं है। जम्बु स्वामी (वीर निर्वाण की पहली शताब्दी) अंतिम केवली थे। अंतिम मन पर्यायज्ञानी और अवधिज्ञानी कौन हुए, इसका उल्लेख नहीं मिलता। स्थूलभद्र (वीर निर्वाण की २-३ शताब्दी) अंतिम चतुर्दश-पूर्वधर थे। वज्र स्वामी (वीर निर्वाण की छठी शताब्दी) दश-पूर्वधरों में अंतिम थे। विग्रह-परम्परा के अनुसार अंतिम दश-पूर्वधर धर्मसेन (वीर-निर्वाण की चौथी शताब्दी) थे।^२ आगम-पुरुष की अनुपस्थिति में इनका स्थान श्रुत को मिला।

आगम-पुरुषों की अनुपस्थिति में उनकी रचनाओं (सम्यक्-श्रुत) को भी आगम कहा जाने लगा। अनुयोगद्वार में द्वादशांशी के लिए आगम शब्द का प्रयोग हुआ है।^३ नंदी में द्वादशांशी के लिए सम्यक्-श्रुत का प्रयोग मिलता है।^४ इस प्रकार उत्तरकाल में सम्यक्-श्रुत और आगम पर्यायज्ञाची बन गए। दर्शकालिक सम्यक्-श्रुत है और साथ-साथ आगम-पुरुष की हृति होने के कारण आगम भी है।

न्यायशास्त्रों में श्रुत या शब्द-ज्ञान के स्थान में आगम का प्रयोग मुख्य हो गया। स्याय-ज्ञानीय परिभाषा के अनुसार आम-बचन से होने वाला अर्थ-संबेदन आगम है।^५ उपचार-दृष्टि में आम-बचन को भी आगम कहा जाता है।^६ इस न्याय-ज्ञानीय आगम का वही अर्थ है, जो प्राचीन परम्परा में सम्यक्-श्रुत का है।

१—भगवती दादा ३३९।

२—जयघबला, प्रस्तावना, पृष्ठ ४९।

३—(क) अनुयोगद्वार, सूत्र ७०२ :

से किं तं आगमे ? आगमे दुविहे पर्णते, तंजहा लोइए य लोउत्तरिए य ।

(ल) वही, सूत्र ७०४ :

से कि तं लोउत्तरिए ? लोउत्तरिए जज्ञा इमं अरिहंतेहि॒ भगवतीहि॒ उपर्णणा॑ ऊर्णवंसणधरे॒हि॒ तीयपञ्चुपर्णमणागयजाणएहि॒ तिलुक्कवहिजि॒ महिअपूर्वाएहि॒ सब्बदरसीहि॒ पर्णीबं दुवालसंगं गणिपिडं ।

४—नंदी, सूत्र ४२ :

से कि तं सम्मुखं ? सम्मुखं…… दुवालसंगं गणिपिडं ।

५—प्रभाणनयतत्वालोक, ४।१ :

आम-बचनादाविर्भूतमर्थ-संबेदनमाधमः ।

६—वही, ४।२ : उपचारादावास्पदतमं च ।

शब्द-ज्ञान की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता वक्ता पर निर्भर है। आस का वचन विसंवादी नहीं होता, इसलिए उसका प्रामाण्य होता है। वेदान्त के आचार्यों ने इसे इस रूप में प्रतिपादित किया है कि जिस वाक्य का तात्पर्यार्थ प्रमाणान्तर से बाधित नहीं होता, वह वाक्य प्रमाण होता है।^१ प्रमाणान्तर से वही वाक्य बाधित नहीं होता, जो आस पुरुष (या आगम-पुरुष) द्वारा प्रतिपादित होता है। इस प्रकार आगम और आगम-पुरुष सम्बन्ध में स्थित हो जाते हैं। आगम और श्रुत के अर्थ में 'सूत्र' शब्द का प्रयोग भी हुआ है।^२ श्रुत, सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, सासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापन और आगम इन्हे एकार्थवाची कहा गया है।^३ सूत्र का प्रयोग आगम के विशेषण के रूप में भी होता है। इमका सम्बन्ध प्रधानतया संकलना से है। भगवान् भद्रावीर ने जो उपदेश दिया (अथवा जो विम्नार है) वह अद्योगम और गणधरो ने उसे गुम्फित किया (अथवा जो संक्षेप है) वह 'सूत्रागम' और इन दोनों का समन्वित रूप 'तदुभयागम' कहलाता है।^४

दोनों आगमों में आस अन्तर का अध्ययन करने के बाद भी आचारांग की प्रथम चूला की शिष्टेवणा और भाव्यगत के निर्माण में दशवेंकालिक का योग है—इस अभिमत को अद्वीकार नहीं किया जा सकता।

दशवेंकालिक की रचना आचारांग चूला से पहले हो चुकी थी, इसका पुष्ट आधार प्राप्त होता है। प्राचीनकाल में आचारांग (प्रथम श्रुतस्कंध) पढ़ने के बाद उत्तराध्ययन पढ़ा जाता था, किन्तु दशवेंकालिक की रचना के पश्चात् वह दशवेंकालिक के बाद पढ़ा जाने लगा।

१—वेदान्त परिभाषा, आगम परिच्छेद, पृष्ठ १०८ :

यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद् वाक्यं प्रमाणम् ।

२—दशवेंकालिक चूलिका, २११ :

सुतस्स मरोण चरेऽज्ज निष्टु ।

३—(क) अनुयोगद्वार, सूत्र ५१ :

सुयसुतगंवसिद्धुत सासने आण वयण उवएसे ।

पन्नवण आगमेवि य एगटु पञ्जबा सुते ॥

(क) विशेषावस्थक भाष्य, चाचा ८९७ ।

४—अनुयोगद्वार, सूत्र ७०४ :

अहवा आगमे तिविहे पणसे, तंजहा—सुसागमे अत्यागमे तदुभयागमे ।

प्राचीन काल में 'आमरंग' (आचारांग १।२।५) का अध्ययन कर मुनि पिण्डकल्पी (भिक्षाग्रही) होते थे। फिर वे दशवेकालिक की 'पिण्डेषण' के अध्ययन के पश्चात् पिण्डकल्पी होने लगे।

यदि आचारांग चूला की रचना पहले हो गई होती तो दशवेकालिक को यह स्थान प्राप्त नहीं होता।

इससे भी यह प्रमाणित होता है कि आचारांग चूला की रचना दशवेकालिक के बाद हुई है।

आगम के वर्गीकरण में दशवेकालिक का स्थान :

आगमों के मूल्य वर्ग दो हैं— अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य।^१ बारह आगम अंग-प्रविष्ट कहलाते हैं—आचार, मूत्रकृत, स्थान, समवाय, विवाह-प्रज्ञासि, ज्ञाताधर्मकथा, उपासक-दशा, अन्तकृत-दशा, अनुस्तरोपपात्रिक-दशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकश्रुत और दृष्टिवाद।^२ अंग-बाह्य के दो प्रकार हैं—आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त।^३ आवश्यक-व्यतिरिक्त के दो प्रकार हैं—कालिक और उत्कालिक।^४ उत्कालिक के अन्तर्गत अनेक आगम हैं। उनमें पहला नाम दशवेकालिक का है।^५ दशवेकालिक आगम-पुरुष की रचना है, इसलिए यह आगम है। गणधर-रचित आगम ही अंग-प्रविष्ट होते हैं और यह स्थविर-रचित है इसलिए अंग-बाह्य है। कालिक-आगम दिन और रात के प्रथम और

१—वंदी, सूत्र ६७ :

अव्यातं समाप्ताऽत्र दुष्टिहं पन्नतं, तंजहा—अंगपचिह्नं अंगबाहिरं च ।

२—वही, सूत्र ७४ :

से कि तं अंगपचिह्नं ? अंगपचिह्नं दुवालसचिह्नं पण्णतं, तंजहा—आयारो १, सूयगडो २, ठाण ३, समवाओ ४, विवाहपन्नसी ५, नायाष्ममकहाओ ६, उवासगवसाओ ७, अंतगडसाओ ८, अगुत्तरोवकाह्यवसाओ ९, पण्णावागर-जाई १०, विवागसुयं ११, विट्वाओ १२ ।

३—वही, सूत्र ६६ :

से कि तं अंगबाहिरं ? अंगबाहिरं दुष्टिहं पण्णतं, तंजहा—आवस्तय च, आवस्तयवइरितं च ।

४—वही, सूत्र ७० :

से कि तं आवस्तयवइरितं ? आवस्तयवइरितं दुष्टिहं पण्णतं, तंजहा—कालियं उक्तालियं च ।

५—वही, सूत्र ७१ :

से कि तं उक्तालियं ? उक्तालियं अगेगचिह्नं पण्णतं, तंजहा—दसवेयालियं... ।

चरम प्रहर में ही पढ़े जा सकते हैं। किन्तु दशवेकालिक उत्तालिक आगम है इसलिए यह अव्याख्यायी के अतिरिक्त मभी प्रहरों में पढ़ा जा सकता है। व्याख्या की दृष्टि से आगम चार भागों में विभक्त किए गए हैं—

१—चरणकरणानुयोग

२—धर्मकथानुयोग

३—गणितानुयोग

४—द्रव्यानुयोग

भगवान् महाबीर से लेकर आर्यरक्षित से पहले तक यह विभाग नहीं था। पहले एक साथ चारों अनुयोग किए जाते थे। आर्यरक्षित ने बुद्ध-कौशल की कमी देख अनुयोग के विभाग कर दिए। उसके बाद प्रत्येक अनुयोग को अलग-अलग निरूपण करने की परम्परा चली। इस परम्परा के अन्यायार दशवेकालिक का भमावेज चरणकरणानुयोग में होता है।^१ इसमें चरण (मूलगुण^२) और करण (उत्तरगुण^३) इन दोनों का अनुयोग है। और चलकर आगमों का और वर्गीकरण होता। उसके अन्यायार अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य के अनिश्चित, मूल और छेद—ये दो वर्ग और किए गए। दशवेकालिक 'मूल' आगम सूत्र भाना जाता है।^४

१—आगस्त्य चूर्णिः

उद्दित्समुद्दित्त-गण्डारा तत्स अगुयोगो भवति तेष अहिगारो। सो चउच्चिहो, तंजहा—चरणकरणागुयोगो सो य कालिय सुयावि १, अग्नगुयोगो इसिमासियावि २, गणितागुयोगो सूर्यगुणसियावि ३, बिवाणुयोगो दित्यादो ४, स एव सप्तासओ दुविहो पृहत्तागुयोगो अपुहत्तागुयोगो य। अं एकतप्तुचित्ते चत्त। रि वि भासिज्जंति एवं अहतं, तं पृण भट्टारणामो जाव अज्जवहरा। ततो आरेष पृहतं जत्य वलेयं पमासिज्जस्ति। भासणाविहित्तकरणं अज्जरस्तिय पूसमित्तकिभादिविससता मण्डति। इह चरणकरणागुयोगेण अधिकारो।

२—प्रबक्षनसारोद्धार, गाथा ५५२ :

चरणं मूलगुणाः।

वय समज-धम्म संयम, देयावच्चं च बंभगुत्तीओ।

गाणाइतियं तत्व, कोहनिगहाई चरणमेयं॥

३—बही, गाथा ५६३ :

करणं उत्तरगुणाः।

पिंडविसोही समिई, भाषण पडिमा इंदियनिरोहो।

पदिलेहण गुत्तीओ, अभिग्नहा चेव करणं तु॥

४—बेसो—'इसवेजालिय तह उत्तरगुणाणि' की भूमिका, पृ० १-९।

नामकरण :

प्रस्तुत आगम के दो नाम उपलब्ध होते हैं—‘दसवेयालिय’ (दशवेकालिक) और ‘दसकालिय’ (दशकालिक) ।

यह नाम ‘दस’ और ‘वेकालिक’ या ‘कालिक’ इन दो पदों से बनता है। इस (दश) शब्द इसके अध्ययनों की संख्या का सूचक है। इनकी पूर्ण विकाल-वेला में ही इसलिए इसे वेकालिक कहा गया। सामान्य विधि के अनुसार आगम-रचना पूर्वाह्न में की जाती है किन्तु मनक को अल्पायु देख आचार्य शश्यम्भव ने तत्काल—अपराह्न में ही इसका उद्धरण शुरू किया और यह विकाल में पूरा हुआ।

स्वाध्याय का काल चार प्रहर—दिन और रात के प्रथम और अंतिम प्रहर—का है। यह स्वाध्याय-काल के बिना (विकाल में) भी पढ़ा जा सकता है, इसलिए इस आगम का नाम ‘दशवेकालिक’ रखा गया है।

यह चतुर्दश-पूर्वी-काल से आया हुआ है अथवा काल को लक्ष्य कर किया हुआ है, इसलिए इसका नाम ‘दशवेकालिय’ रखा गया है।

इसका दसवाँ अध्ययन दंतालिक नाम के हृत में रखा हुआ है, इसलिए इसका नाम ‘दसवेतालिय’ हो सकता है।

ये अगस्त्य चूर्णि के अभिमत हैं :^३

१—(क) नंदी, सूत्र ४६।

(ल) दशवेकालिक निर्युक्ति, गाथा ६।

२—दशवेकालिक निर्युक्ति, गाथा १, ७, १२, १४, १५।

३—अगस्त्य चूर्णि :

उपर्युक्त निष्पत्ति नाम दसकालियं। तत्य कालादागयं विसेसिङ्गति चोहस-पुष्टिकालात। भगवतो वा पंचमातों पुरिसञ्जुगातों, ‘तत आगतः’ (पाणि० ४।३।७४) इति उप्रत्ययः, कालं व सव्यपञ्जाहि परिहीयमाणमविकलकयं एत्य ‘अधिकृत्य हृते ग्रन्थे’ (पाणि० ४।३।८७) स एव उप्रत्ययः तत्य इय आवेशः, दशकं अज्ञयणाणं कालियं निष्ठेण विहिणा ककारलोपे हृते दसकालियं। अहृषा वेकालियं भगलत्यं पुष्टवे सत्यारंभो भवति, भगवया पुण अज्ञसेऽज्ञंभवेण कहमवि अवरपृहकाले उवयोग। कतो, कालातिवायविकृत-परिहरणाय निर्जूदमेव अतो वेगते काले विहाले दसकमज्ञयणाणं कतमिति दसवेकालियं चतुर्पोरसितो सज्जायाकालो तम्भि विगते वि पद्मितीति विगय कालियं दसवेकालियं। दसमं वा वेतालियोपज्ञातिवृत्तेहि णियमितमज्ञयण-मिति दसवेतालियं।

इसमें 'दसवेयालिय' और 'दसकालिय' प्रसिद्ध नाम हैं और जहाँ तक हम जानते हैं 'दसवेतालिय' का प्रयोग अगस्त्यसिंह मुनि के सिवाय अन्य किसी ने नहीं किया है। निर्युक्तिकार ने स्थान-स्थान पर 'दसकालिय' शब्द का प्रयोग किया है^१ और कही-कही 'दसवेयालिय' का भी।^२ जिनदास महत्तर ने केवल 'दसवेयालिय' शब्द की व्याख्या की है।^३ हरिभद्र सूरि ने 'दसकालिक' और 'दशवैकालिक' इन दोनों शब्दों का उल्लेख किया है।^४

प्रश्न यह होता है कि आगमकार ने इसका नामकरण किया या नहीं ? यदि किया तो क्या ?

मूल आगम में 'दशवैकालिक' या 'दसकालिक' नाम का उल्लेख नहीं है। इसकी रचना ताल्कालिक उद्देश्य की पूनिके लिए हुई थी। मनक के देहावसान के बाद शाय्यस्मृत इसे जहाँ में उदूत किया, वही अन्तर्निविष्ट कर देना चाहते थे। इसलिए सम्भव है, रचना के लिए कोई नाम न रखा हो। जब इसे स्थिर रूप दिया गया, तब आगमकार के द्वारा ही इसका नामकरण किया जाना सम्भव है।

उपयोगिता और स्थापना :

मनक ने यह मास में दशवैकालिक पढ़ा और वह समाधिपूर्वक इस संसार से चल बसा। वह श्रुत और चारित्र को सम्यक् आराधना कर सका, इसका आचार्य को हर्ष हुआ। आँखों में आनन्द के आँसू छलक पड़े। यशोभद्र (जो उनके प्रधान शिष्य थे) ने बड़े आश्चर्य के साथ आचार्य को देखा और विनयावनत हो इसका कारण पूछा। आचार्य ने कहा—“मनक मेरा संसारगदीय पुत्र था, इसलिए कुछ स्नेह-भाव उमड़ आया। वह आराधक हुआ, यह सोच मन आनन्द से भर गया। मनक की आराधना के लिए मैंने इस आगम (दशवैकालिक) का निर्यूहन किया। वह आराधक हो गया। अब इसका क्या किया जाय ?” आचार्य के द्वारा प्रस्तुत प्रश्न पर संघ ने विचार किया और आखिर मही निर्णय हुआ कि इसे यथावत् रखा जाय। यह मनक जैसे अनेक मुनियों की आराधना

१—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १,७,१२,१४,१५।

२—बही, गाथा ६।

३—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ५।

४—दश० हारिमद्वीप दीका, पत्र १२।

का निमित्त बनेगा, इसलिए इसका विच्छेद न किया जाय।^१ इस निर्णय के पश्चात् दशवैकालिक का वर्तमान रूप अध्ययन-क्रम में जोड़ा गया। महानिशीथ (अध्ययन ५, दुष्प्राप्ति-प्रकरण) के अनुमार पाँचवें और (दुष्प्राप्ति-काल) के अन्त में जब अंग-साहित्य विच्छिन्न हो जाएगा, तब दुस्रे मुनि के बल दशवैकालिक के आधार पर संयम की आराधना करेंगे।

१—दश० हारिमद्वीप टीका, पत्र २८४ :

आणांदांसुपायं कासी तिळांसवा तहिं येरा।

जसमद्वस्त य पुच्छा कहणा अ विभालणा संघे ॥३७१॥

“विचारणा संघ” इति शत्यम्भवेनात्यायुजमेनमवेत्य मयेवं शास्त्रं निर्यूढं किमव
मुक्तमिति निवेदिते विचारणा संघे—कालहासदोषात् प्रभृतसत्त्वानामिदमेवो-
पकारकमतस्तिष्ठत्वेत वित्येवंभूता स्थापना ।

२—दशबैकालिक के कर्ता और रचनाकाल

रचनाकार का जीवन-परिचय :

ग्रन्थ में शायमभव नाम का आङ्कण रहता था। वह अनेक विद्याओं का पारगामी विद्वान् था। प्रभव स्वामी ने अपने दो साधुओं को उसकी यज्ञशाला में भेजा। साधु वहाँ पहुँचे और धर्म-न्याय कहा। आचार्य की शिक्षा के अनुसार वे बोले—“अहो कष्टमहो कष्टं, तत्त्वं न ज्ञायते परम् ।” शायमभव ने यह मृना और सोचा—ये उपशान्त तपस्वी असत्य नहीं बोलते। अवश्य ही इसमें रहस्य है। वह उठा और अपने अध्यापक के पास जाकर बोला—“कहिए, तत्त्व क्या है?” अध्यापक ने कहा—“तत्त्व वेद है ।” शायमभव ने तलवार को स्थान से निकाला और कहा—“या तो तत्त्व बतलाइए, अन्यथा इसी तलवार से सिर काट डालूंगा ।”

अध्यापक ने मोचा अब समय आ गया है। वेदार्थ की परम्परा यह है कि सिर काट डालने का प्रयत्न आए, तब कह देना चाहिए। अब यह प्रयत्न उपस्थित है, इसलिए मैं तत्त्व बतला रहा हूँ। अध्यापक ने कहा—“तत्त्व आहंत-धर्म है ।” वह आगे बढ़ा और घूप के नीचे जो अर्णिंहं की प्रतिमा थी उसे निकाल शायमभव को दिखाया। वह उसे देख प्रतिबृद्ध हो गया।^१ शायमभव ने अध्यापक के चरणों में बैठना की और मंतुष्ठ होकर यज्ञ की सारी सामग्री उसे भेट में दे दी। वह चला और मुनि-युगल को खोजते-खोजते वही जा पहुँचा, जहाँ उसे पहुँचना था। अपनी गर्भवती युवती पत्नी को छोड़ २८ वर्ष की अवस्था में उसने प्रभव स्वामी के पास प्रक्रिया ले ली।

दशबैकालिक की व्याख्याओं में उनके जीवन का यह परिचय मिलता है।^२ परिशिष्ट-पर्व (सर्ग ५) में भी लगभग यही वर्णन है। इस वर्णन के कुछेक तथ्यों के आधार पर उनके पूर्ववर्ती जीवन की मूल-रूपरेखा हमारे सामने आ जाती है।

१—दशबैकालिक निर्युक्ति, गाथा १४ ।

२—दश० हारिमीथ टीका, पत्र १०, १२ ।

निर्यूहण या लघुकरण :

प्रस्तुत आगम के कर्ता शश्यम्भव सूरि माने जाते हैं।^१ निर्युक्तिकार के अनुसार यह उनकी स्वतंत्र रचना नहीं, किन्तु संकलना है। संकलना के बारे में दो विचार मिलते हैं। पहले के अनुसार प्रस्तुत सूत्र का विषय पूर्वों से उद्धृत कर संकलित किया गया है।^२ दूसरी धारणा के अनुसार यह द्वादशांगी से उद्धृत हुआ है।^३ इन दोनों विचार-धाराओं के स्रोत की जानकारी का कोई साधन प्राप्त नहीं है। निर्युक्ति में इन दोनों का उल्लेख है और शेष व्याख्याकारी ने उसी का अनुगमन किया है। शश्यम्भव सूरि चतुर्दश पूर्वांश पर, इसलिए उनकी रचना को आगम माना जाता है। जयाचार्य के अनुसार चतुर्दश-पूर्वी और दशपूर्वी की वही रचना आगम हो सकती है, जो केवलज्ञानी के समझ की जाए।^४ इसके आधार पर उनकी कल्पना यह है कि पूर्वों के आधार पर रचित दशवेंकालिक का बृहत कलेवर था, उसका शश्यम्भव सूत्रिने लघुकरण किया है।^५ इस कल्पना का कोई स्थष्ट साहित्यिक आधार प्राप्त नहीं है। किन्तु दशवेंकालिक के नियन और अनियन रूप की चर्चा में उनकी कल्पना की पुष्टि होनी है। भगवान् महावीर के चौदह

१—दशवेंकालिक निर्युक्ति, गाथा १४ :

सेषजंबवं गणवरं जिणपडिमादसणेण पटिषुदं ।
मणगपिअरं वसकालियस्स मिञ्जूहं वदे ॥

२—बही, गाथा १६, १७ :

आयप्पवायपुव्वा निञ्जूदा होइ घम्मपन्नती ।
फ़म्मप्पवायपुव्वा पिडस्स उ एसणा तिविहा ॥
सञ्जप्पवायपुव्वा निञ्जूदा होइ वक्कुद्दी उ ।
अवसेसा निञ्जूदा नवमस्स उ तहयवट्टुओ ॥

३—बही, गाथा १८ :

(क) श्रीओडवि अ आएसो गणिपिडिमाओ दुवालसंगाओ ।
एअं किर णिञ्जूदं मणगस्स अणुगाह्नाए ॥
(ख) अगस्त्य चूर्णि :
वितियावेसो बारसंगातो जं जतो अगुह्यं ।

४—प्रस्त्रोतर-तत्त्वबोध, १९१९, १० ।

५—(क) बही, दा२१, २२ ।

(ख) भगवती की जोड, २५।३ दाल ४३८ का वार्तिक ।

हजार प्रकीर्णकार साधु थे और उन्होंने चौदह हजार प्रकीर्णको की रचना की।^१ मल्य-गिरि ने 'एवमाइयाइ' (नन्दी सूत्र ४६) की व्याख्या में उत्कालिक और कालिक—दोनों प्रकार के आगमों को प्रकीर्णक माना है।^२ उत्कालिक सूत्रों की गणना में दशवैकालिक का स्थान पहला है। इसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि भगवान् महावीर के समय दशवैकालिक नाम का कोई प्रकीर्णक रहा हो और शब्दम्भव सूरि ने प्रयोजनवश उसका रूपान्तर किया हो। टीका में भी इसके नियत और अनियत रूप की चर्चा का उल्लेख मिलता है। किसी ने पूछा—दशवैकालिक नियत-श्रृत है ? कारण कि ज्ञात-धर्मकथा के उदाहरणात्मक अध्ययन, अधिभाषण और प्रकीर्णक श्रृत अनियत होता है। शेष सारा श्रृत प्राय नियत होता है। दशवैकालिक नियत-श्रृत है। उसमें राजीमती और रथनेभि का अभिनव उदाहरण क्यों ? इसके समाधान में टीकाकार ने लिखा है कि नियत-श्रृत का विषय प्राय नियत होता है, सर्वथा नहीं। इमलिए इस अभिनव उदाहरण का समावेश आपनिजनक नहीं है।^३

इस प्रभान के आधार पर जयचार्य की कल्पना को महत्व दिया जा सकता है। इसका फलित यह होगा कि शब्दम्भव सूरि ने दशवैकालिक के बहुत रूप का लघुकरण किया है। नातर्य की हट्टि से देखा जाए तो इन तीनों मात्यताओं के फलितार्थ में कोई अन्वर नहीं है। शब्दम्भव सूरि ने चाहे चौदह पूर्वों से या द्वादशांगी से हसे उद्भृत किया हो, चाहे इनके बहुत रूप को लघु रूप दिया हो, इसकी प्रामाणिकता में कोई वाधा नहीं आती। निर्घण (उदाहरण) और लघुकरण ये दोनों रूपान्तर हैं। प्रामाणिकता की हट्टि में इन दोनों प्रक्रियाओं में कोई अन्वर नहीं है। प्रयोजनवश आगम-गुरुप को ऐसा अधिकार भी है।

१—नन्दी, सूत्र ४६ :

‘चोहस-यहन्नगसहस्राइ’ भगवतो बहुमाणसाभिस्त ।

२—बही, सूत्र ४६ शुति :

प्रकीर्णकल्पाणि चाययतानि कालिकोत्कालिकमेवमिन्नानि ।

३—दश० हारिमझीय टीका, पत्र ९९ :

अपरस्त्वा ह—दशवैकालिक नियतश्रृतमेव, यत उत्कम—

यायज्ञमयणाहरणा, इसिमात्पियाओ वहनयसुया य ।

एस होंति अणियथा, णियं पुण सेसमुवस्तम्न ॥

तत्कथमेभवोत्पन्नमिदमुदाहरणं युग्यते इति ?, उच्चते, एवम्नूतायत्यैव

नियत श्रृतेऽपि भावादु, उत्सन्नप्रहणात्वादोषः, प्रायो नियतं, न तु सर्वथा नियतमेवत्पर्यः ।

रचना का उद्देश्य :

शश्यम्भव सूरि भगवान् महावीर के चतुर्वं पट्ठघर थे। वे पल्ली को गर्भवती छोड़ कर दीक्षित हुए। पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम मनक रखा गया। वह आठ वर्ष का हो गया। एक दिन उसने अपनी माँ से पिता के बारे मे पूछा। माँ ने बताया—“बेटा! तेरे पिता मूनि बन गए। वे अब आचार्य हैं और अभी-अभी चम्पा नगरी में विहार कर रहे हैं।” मनक ने माँ से अनुमति ली और चम्पा नगरी जा पहुँचा। आचार्य शोच जाकर आ रहे थे, शोच मे ही मनक मिल गया। आचार्य के मन मे कुछ स्नेह का भाव जागा और पूछा—“तू किसका बेटा है?” “मेरे पिता का नाम शश्यम्भव आह्वाण है”, मनक ने प्रसन्न मुद्रा मे कहा। आचार्य न पूछा—“अब तेरे पिता कहाँ है?” मनक ने कहा—“वे अब आचार्य हैं और इस समय चम्पा मे हैं।” आचार्य ने पूछा—“तू यहाँ क्यों आया?” मनक ने उत्तर दिया—“मैं भी उनके पास प्रवेश्या लूँगा” और उसने पूछा—“क्या तुम मेरे पिता को जानते हो?” आचार्य ने कहा—“मैं केवल जानता ही नहीं हूँ” किन्तु वह मेरा अभिन्न (एक शारीरभूत) मित्र है। तू मेरे पास ही प्रवेशित हो जा।” उसने यह स्वीकार कर लिया। संभव है कि शश्यम्भव ने साग रहम्य उमे समझा दिया और पिता-पुत्र के सम्बन्ध को प्रकट करने का नियेष कर दिया। आचार्य स्थान पर चले आए। उसे प्रवेशित किया। आचार्य ने विशिष्ट ज्ञान से देखा—“यह अल्पायु है। केवल यह मास और जीएगा। मुझे इसमे विशिष्ट आराधना करनी चाहिए।”—यह शोच उन्होंने मनक के लिए एक नए आगम का निर्माण करना चाहा। विशेष प्रयोजन होने पर चतुर्दश-शुक्री और अपशिष्वम दशशुक्री निर्यूहण कर मरकते हैं। आचार्य न सोचा—“मैं सम्भूत यह विशेष प्रयोजन उपस्थित हुआ है। इसलिए मुझे भी निर्यूहण करना चाहिए।”^१ यही प्रेरणा दशवैकालिक के वर्तमान रूप का निर्मित बनी।

रचना-काल :

भगवान् महावीर के निवांग के पश्चात् मुद्धमी स्वामी बीम वर्ष तक जीवित रहे।^२ उनके उत्तराधिकारी जम्न स्वामी थे। उनका आचार्य-पद शोचालीय बां रहा।^३ तीसरे

१—दश० हारिमद्वीष टीका, पत्र १२ :

तं चउद्दसगुर्वी कम्भिवि कारणे समुप्पन्ने णिज्जूहति, दसगुर्वो पुण अपाच्छिमा
अवस्त्समेव णिज्जूहति, मर्मपि इमं कारणं समुप्पन्नं तो अहमवि णिज्जूहाऽम,
ताहे आदत्तो णिज्जूहितं।

२—पट्टावलि समुच्चय (तपागच्छ पट्टावली), पृष्ठ ४२ :

श्री बीराद्विसत्या वदेः सिद्धि गतः।

३—वही, पृष्ठ ४२ : श्रीवरान् चतुःविद्वदेः सिद्धः।

आचार्य प्रबल स्वामी हुए। उनका आचार्य-काल यारह वर्ष का है। प्रभव स्वामी ने एक दिन अपने उत्तराधिकारी के बारे में सोचा। अपने गण और संघ को देखा तो कोई भी शिष्य आचार्य-पद के योग्य नहीं मिला। फिर गृहस्थों की ओर ध्यान दिया। राजगृह में शत्यम्भव जाह्नव को यज्ञ करते देखा। वे उन्हें योग्य जान पड़े। आचार्य राजगृह आए। शत्यम्भव के पास सावुओं को भेजा। उनसे प्रेरणा पा वे आचार्य के पास आए, सम्बूद्ध हुए और प्रदर्शित हो गए।

प्रभव स्वामी का आचार्य-काल यारह वर्ष का है^१ और शत्यम्भव के मुनि-जीवन का काल यारह वर्ष का है। वे अठाइस वर्ष तक गृहस्थ-जीवन में रहे, यारह वर्ष मुनि-जीवन में रहे, तेर्डस वर्ष आचार्या या मुग-प्रधान रहे। इस प्रकार ६२ वर्ष की आयु पाल कर बीर-निर्वाण सं० ६८ में दिवंगत हुए।^२ उक्त विवरण से जान पड़ता है कि प्रभव स्वामी के आचार्य होने के थोड़े समय पश्चात् ही शत्यम्भव मुनि बन गए थे, क्योंकि उनका आचार्य-काल और शत्यम्भव का मुनि-काल समान है—दोनों की अवधि यारह-यारह वर्ष की है। बीर-निर्वाण के ३६ वें वर्ष में शत्यम्भव का जन्म हुआ और ४४ वें वर्ष तक घर में रहे। मुनि होने के ८ या ८२ वर्ष के पश्चात् मनक के लिए दशवेकालिक का निर्धूण किया।^३ इस प्रकार दशवेकालिक का रचना-काल बीर-निर्वाण सम्वत् ७२ के भासपास उपलब्ध होता है और यह प्रभव स्वामी की विद्यमानता में निर्भूद किया गया, यह उक्त काल-गणना से स्पष्ट है।

दशवेकालिक का रचना-काल डा० विन्टरनिल्ज ने बीर-निर्वाण के ६८ वर्ष बाद माना है।^४ प्र० एम० बी० पटवर्षन का भी यही मत रहा है।^५ किन्तु यह काल-निर्णय पट्टाबली के कालानुक्रम से नहीं मिलता।

१—महाबलि समुच्चय (प्र०गा) (तपागङ्ग पट्टाबली), पृ० ४३ :

ब्रतपर्याये एकावस पुग्रप्रधानपर्याये चेति ।

२—बही, पृ० ४३ :

स चाष्ट्रविश्वतिवर्त्तिं गृहस्थपर्याये, एकावस ब्रते, ब्रयोविश्वतिर्मुगप्रधानपर्याये चेति सर्वायुद्विविलिकर्त्तव्यायि परिपाल्य श्रीबीरादध्यनवतिवर्त्तिक्रमे स्वर्गमात् ।

३—हारिमझीय दीका, पृ० ११, १२ :

जया सो अद्वैतिसो जाओ ताहे सो मातरं पुण्ड्रइ को भम पिंओ ?, सा नव्वइ तव पिंओ पव्वइओ, ताहे सो दारओ जासिऊण रित्सगासं पहिंओ .. सो पव्वइओ ।

४—A History of Indian Literature, Vol. II, page 47, F. N. 1

५—The Daśavaikālīka Sūtra . A Study, page 9.

३—रचना-शैली

दत्तवेकालिक रचना की हास्ति से बास्तव में ही सूत्र है। पारिभाषिक शब्दों में अर्थ को बहुत ही संक्षेप में गौण्या गया है। मनक को थोड़े में बहुत देने के उद्देश्य से इसकी रचना हुई, उसमे रचनाकार बहुत ही सफल हुए हैं। विषय के वर्णकरण को हास्ति से भी इसका रचनाक्रम बहुत प्रशस्त है। आदि से अन्त तक धर्म और धार्मिक की विशेषता का निरूपण है। उसे पढ़ कर यह सहजतया बुद्धिगम्य हो सकता है कि धार्मिक धर्म का स्पृश्न कैसे करे और अधर्म से कैसे बचे ?

इसका अधिकांश भाग पद्यात्मक है और कुछ भाग गद्यात्मक। गद्य भाग के प्रारम्भ में उत्तराध्ययन की शैली का अनुसरण है।^१ गद्य-भाग के बीच-बीच में गद्योत्त विषय का मंग्रह पद्यों में किया है।^२ ऐसी शैली उपनिषदों में रही है।^३

(क) उत्तराध्ययन, २९।१ :

सुयं मे आउसं ! तेजं भगवद्या एवमक्षायं—इह स्तु सम्मतपरवक्तमे नाम
अम्भयेण समर्पणं भगवद्या भगवानीरेण कासवेण पवेद्दृष्टे ।

(ख) दत्तवेकालिक, ४। सूत्र १ :

सुयं मे आउसं ! तेजं भगवद्या एवमक्षायं—इह स्तु छम्भीवणिया
नामम्भयेण समर्पणं भगवद्या भगवानीरेण कासवेण पवेद्दृष्ट्या सुयक्षाया
सुपलता ।

(ग) उत्तराध्ययन, १६। सूत्र १ :

सुयं मे आउसं ! तेजं भगवद्या एवमक्षायं—इह स्तु येरेहि भगवन्तेहि
दस बम्बचेरसमाहिताणा पन्नता ।

(घ) दत्तवेकालिक, ९।४। सूत्र १ :

सुयं मे आउसं ! तेजं भगवद्या एवमक्षायं—इह स्तु येरेहि भगवन्तेहि
चतारि विषयसमाहिताणा पन्नता ।

२—दत्तवेकालिक, ९।४।

३—त्रस्नोपनिषद्, ६।५,६ :

स एकोऽस्तोऽस्तुतो भवति तदेव इलोकः—

अरा इव इत्नामौ कला यस्मिन्प्रतिषिद्धिः ।

तं वेद्यं पुरुषं वेद् (यता) मा चो मृत्युः परिष्वका इति ॥

विवर्य को स्पष्ट करने के लिए उपमाओं का भी व्येष्ट प्रयोग किया है। रघुनेमि और राजीमती की घटना के सिद्धाय अन्य किसी घटना का इसमें स्पष्ट उल्लेख नहीं है। कहीं-कहीं घटना के संकेत अवश्य दिए हैं। ५।२।५ में किया व पुरुष का आकस्मिक परिवर्तन पाठक को सहसा विस्मय में डाल देता है। यदि चूर्णिकार ने इस श्लोक की पृष्ठभूमि में रही हुई घटना का उल्लेख न किया होता, तो यह श्लोक व्याकरण की हाइ से अवश्य ही विमर्शनीय बन जाता।

इसी प्रकार १।४ में हुआ उत्तमपुरुष का प्रयोग भी सम्भव है किसी घटना से सम्बद्ध हो, पर किसी भी व्याख्या में उसका उल्लेख नहीं है।

अनुष्टुप् श्लोक वाले कुछ अध्ययनों के अंत भाग में उपजाति आदि बृहत् रख कर आचार्य ने इसे महाकाव्य की कोटि में ला रखा (देखिए अध्ययन ६,७ और ८)। कहीं-कहीं प्रश्नोत्तरात्मक-शैली का भी प्रयोग किया गया है (देखिए ४।७-८)। परन्तु ये प्रश्न आगमकर्ता ने स्वयं उपस्थित किए हैं या किसी दूसरे व्यक्ति ने, इसका कोई समाधान नहीं मिलता। बहुत सम्भव है कि मुमुक्षु कौसे चले? कौसे लड़ा रहे? कौसे बैठे? कौमे सोए? कौसे खाए और कौसे खोले? —ये प्रश्न आचार्य के सामने आते रहे हो और रचना के प्रसंग आने पर आचार्य ने उनका स्थायी समाधान किया हो।

यहस्य और मुनि के चलने-बोलने आदि में अहिंसा की मर्यादा का बहुत बड़ा अन्तर होता है, इसलिए प्रकृत्या ग्रहण के अनन्तर आचार्य नव-दीक्षित श्रमण को चलने-बोलने आदि की विधि का उपदेश देते हैं। भगवान् महावीर ने महाराज श्रेणिके पुत्र मेघकुमार को दीक्षित कर आचार-गोचर और विनय का उपदेश देते हुए कहा— “देवानुप्रिय ! अब तुम श्रमण हो, इसलिए तुम्हे युग-मात्र भूमि को देख कर चलना चाहिए (तुलना कीजिए ५।१।३), निर्जीव-भूमि पर कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़ा रहना चाहिए; (मिलाइए ८।१, १३), जीव-जन्मु रहित भूमि को देख कर, प्रमार्जित कर बठना चाहिए (तुलना कीजिए ८।४, १३), जीव-जन्मु रहित भूमि पर सामायिक या चतुर्विद्यान्वय का उच्चारण और शरीर का प्रमार्जित कर मोना चाहिए (मिलाइए ८।१।३) साधिमिको को निमन्त्रण दे सम्भाव से खाना चाहिए (तुलना कीजिए ५।१।२४-६६, १०।६), हित, मित और निरविद्या भाषा बोलनी चाहिए (देखिए ७ वाँ अध्ययन) और संयम में सावधान रहना चाहिए। इसमें योड़ा भी प्रमाद नहीं होना चाहिए ॥”

१—जाताधर्मकथा, १।३०-३०:

तए जं समने भगवं महावीरे मेहं कुमारं लक्ष्मेव पश्चात्तेऽ सक्षेव मायार जाव
वन्मादादर्शह, एवं देवा पुरिप्रा ! यंत्वं विद्विष्वं चिक्षीयत्वं सुष्टुप्तियत्वं
मुचियत्वं मातिष्यत्वं एवं उद्धाय चक्राग्र इत्येहि चूपहिं अविष्टेहि लसेहि संज्ञमेण
संज्ञियत्वं अस्ति च च अहे नो पश्चादेयत्वं ।

आचार्य शत्यमभव ने इस सूत्र के द्वारा मनक को वही उपदेश दिया, जो भगवान् ने मेषकुमार को दिया था। दूसरे शब्दों में यो कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर नव-दीक्षित श्रमणों को जो प्रारम्भिक उपदेश देते थे, उसे आचार्य शत्यमभव ने प्रशस्त शैली में संकलित कर दिया। उक्त श्लोकों के अगले अध्ययनों में आचार-संहिता की आचारभूत इही (चलने-बोलने आदि की) प्रदृष्टियों का विस्तार है। उत्तराध्ययन,^१ धर्मपद,^२ महाभारत^३ आदि के लक्षण-निरूपणात्मक-अध्यायों में व्यवस्थित शैली का जो रूप है, वह दशवेकालिक में भी उपलब्ध होता है (देखिए ६।३ में पूज्य और १०वें में भिक्षु के लक्षणों का वर्णकरण)।

इसकी रचना प्राय सूत्र रूप है, पर कही-कही व्याख्यात्मक भी है। अहिंसा, परिग्रह आदि की बहुत ही नये-नुए शब्दों में परिभाषा और व्याख्या यहाँ मिलती है (देखिए ६।८, ६।२०)।

कही-कही अनेक श्लोकों का एक श्लोक में मंसेप किया गया है। उसका उदाहरण आठवें अध्ययन का २६ वाँ श्लोक है—

कर्णसोक्षेहि सदे हि पेमं नाभिनिवेसा ।

दारुणं कक्षसं कासं काशं अहियासए ।

यहाँ आदि और अन्त का अर्थ प्रतिपादित किया गया है। पूर्ण रूप में उसका प्रतिपादन पाँच श्लोकों के द्वारा हो सकता है। निशीथभाष्य चूर्ण^४ तथा चूहदकल्पभाष्य दृति^५ में इस आशय का उल्लेख और पाँच श्लोक मिलते हैं-

कर्णसोक्षेहि सदे हि पेमं नाभिनिवेसए ।

दारुणं कक्षसं सदे सोएणं अहियासए ॥

चक्षुकर्तेहि रुद्रेहि पेमं नाभिनिवेसए ।

दारुणं कक्षसं रुदं चक्षुणा अहियासए ॥

घाणकर्तेहि गंधेहि पेमं नाभिनिवेसते ।

दारुणं कक्षसं गंधं घाणेण अहियासए ॥

१-१५ वें में भिक्षु और २५ वें में ब्राह्मण के लक्षणों का निरूपण ।

२-ब्राह्मण वर्ण । यह मौलिक नहीं, किन्तु संकलित है ।

३-सात्त्वि पर्व, मोक्षवर्म, अध्याय २।४।

४-निशीथभाष्य चूर्ण, भाग ३, पृष्ठ ४८३ ।

५-चूहदकल्प, भाग २, पृष्ठ २७३, २७४ ।

जीहकतेहि रसेहि पेम्म णाभिणवेसते ।
 दारुणं कळसं रसं जीहाए अहियासए ॥
 मुहकासेहि कतेहि पेम्म णाभिणवेसए ।
 दारुणं कळसं फासं काएं अहियासए ॥

यद्यपि आस-मुख की वाणी में विधि-नियेष के प्रयोजन का निरूपण आवश्यक नहीं होता, उसका क्षेत्र तर्कवाद है, किन्तु प्रस्तुत आगम में नियेष के कारणों को बहुत सूक्ष्म दृष्टि से समझाया गया है (देखिए अध्ययन ५,६ और १०) ।

योडे में इसकी शैली न तो गद्य-भाषात्मक रचना-काल जैसी प्राचीन, मंजिस और स्पष्ट-मय है और न पूर्ण आधुनिक ही । मध्य-कालीन आगमों की रचना-शैली में कुछ मिल होते हुए भी अधिकांश में अभिन्न है ।

४—व्याकरण-विमर्श

आगमिक प्रयोगों को व्याकरण की कस्ती से कसा जाय तो वे मब के सब खरे नहीं उतरेंगे। इनीलिए प्राकृत-व्याकरणकारों ने आगम के अलाक्षणिक प्रयोगों को आर्थ-प्रयोग कहा है।^१ प्रस्तुत आगम में अनेक अलाक्षणिक प्रयोग हैं।

परन्तु एक अधम भूल से बचते के लिए हमें एक महत्वपूर्ण विषय पर ध्यान देने की आवश्यकता है। वह यह है कि उत्तर-कालीन व्याकरण की कस्ती से पूर्ववर्ती प्रयोगों को कसने की मनोवृत्ति निर्दोष नहीं है। भाषा का प्रवाह और उसके प्रयोग काल-परिवर्तन के माध्यम साथ परिवर्तित होने रहते हैं। उन्हें कोई भी एक व्याकरण बांध नहीं सकता। आगमिक प्रयोगों का मुख्य आधार पूर्वान्वय शब्द-शास्त्र रहा है। उसके कुछ एक संकेत आज भी आगमों में मिलते हैं। स्थानांग में शुद्ध-वचन-अनुयोग के दस प्रकार बतलाए हैं। उन पर ध्यान देने में पता चलता है कि जिन आगमिक प्रयोगों को उत्तर-कालीन व्याकरण की हृषि में अलाक्षणिक प्रयोग कहते हैं, उन्हें आगमकार शुद्ध-वाक्-अनुयोग कहते हैं।^२ ‘वत्यान्वभलकार’ (२१२) की व्याख्या में हिंभद मूरि ने ‘मलंकार’ के ‘म’ को अलाक्षणिक माना है।^३ किन्तु मकरानुयोग की हृषि में यह प्रयोग आगमिक व्याकरण या तात्कालिक प्रयोग-निर्गाटी में सम्मत है, इसलिए अलाक्षणिक नहीं है।^४ इसी प्रकार विभक्ति और वचन का न्यंकण भी सम्मत है।^५ पाणिनि और हेमचन्द्र ने इस व्यत्यय को अपने व्याकरणों में भी स्थान दिया है।^६ आगमिक प्रयोगों में विभक्ति रहित भी प्रयोग मिलते हैं—‘गिष्ठाहि साहुगुण मुच्चमाह’ (६१३।११)—यहाँ गुण शब्द

१—हेमसत्त्वानुशासन, आर्बम्, दा।१।३

२—स्थानांग, १०।७४४ :

दसविंशे सुदुवाताणुओंगे पन्तसे तंजहा—चंकारे (१), मंकारे (२), चिकारे (३), सेतंकारे (४), सातंकारे (५), एषते (६), पुषते (७), संजूहे (८), संकापिते (९), मिन्ने (१०)।

३—हारिमद्वीय टीका, पत्र ९१ :

असुद्धारोऽलाक्षणिकः ।

४—स्थानांग, १०।७४४ ।

५—वशावैकालिक, भाग २ (मूल, सार्व, सटिप्पण) पृष्ठ २७, विषय ११ ।

६—हेमसत्त्वानुशासन, दा।४।४४७ ।

कन्वोत्त्वाः ।

द्वितीया का बहुवचन है (यहाण साथुणान्) पर इसकी विभक्ति का निर्देश नहीं है। आर्य मलयगिरि ने इस प्रकार के विभक्ति-लोप को 'आर्य' कहा है।^१

देखी शब्दों के प्रयोग भी यत्र-तत्र हुए हैं। हमने उनकी संस्कृत शाया नहीं की है। कहीं-कहीं टिप्पणियों में तदर्थक संस्कृत शब्द का उल्लेख किया है।

जिस प्रकार वैदिक प्रयोग लौकिक संस्कृत से भिन्न रहे हैं, उसी प्रकार आगमिक प्रयोग भी लौकिक प्राकृत से भिन्न रहे हैं। उन्हें सामयिक प्रयोग कहा जा सकता है। मलयगिरि के अनुसार जो शब्द अन्वर्चरहित और केवल समय (आगम) में ही प्रसिद्ध हो, वह सामयिक कहलाता है।^२ प्रस्तुत आगम में 'पिण्ड'^३ और 'परिहरनि'^४ आदि सामयिक शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिनका यथास्थान उल्लेख किया गया है। सामयिक नाम का आधार मम्भवत स्थानांग का सामयिक व्यवसाय है। वहाँ व्यवसाय के नीन प्रकार किए हैं—लौकिक, वैदिक और सामयिक।^५

व्याकरण की हाइ से भीमासनीय शब्दों को हमने यारह भागो में विभक्त किया है—मंषि, कारक, वचन, समाम, प्रत्यय, लिङ्, क्रिया और अर्द्ध-क्रिया, क्रिया-विभेदण, आर्य-प्रयोग, विदोष विमर्श तथा क्रम-भेद। उनका क्रमशः विवरण इस प्रकार है—

१—सन्धि

एमेए (११३)

इसमें 'एव' और 'एते'—ये दो शब्द हैं। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार श्लोक-रचना की हाइ से 'एव' के 'व' का लोप हुआ है।^६ प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'एवमेव' रूप 'एमेव' बनता है।^७ संभव है 'एमेव' ही आगे चल कर 'एमेए' बन गया हो।

१—पिण्ड निर्युक्ति, गाया १ वृत्ति :

इंगालधूमकारण—सूत्रे च विमत्तिलोप अर्थत्वात् ।

२—बही, गाया ६ वृत्ति :

गोचर्णं समयक्यंवा—तथा समयजं यद्यन्वर्चरहितं समय एव प्रसिद्धं यद्यौदनस्य-
प्रान्तिकेति ।

३—दशबैकालिक, माग २ (मूल, सार्व, सटिप्पण) पौच्छें अन्यथा का आमुल,
पृष्ठ १९३, १९५-१९६ ।

४—दशबैकालिक ६१९ ।

५—स्थानांग, ३।३।१८५ :

तिथिहे ववसाए पन्नते तंजहा—लोइए बेइए सामइए ।

६—अगस्त्य चूर्णि : बकार लोपो सिलोगपायाणुलोमेण ।

७—हेमशब्दानुगात्रम्, ८।१।२७१ :

यावस्तावणीवित्तावर्तमानाक्षत्रप्रावारक—दैक्षुलैक्ष्मीवेषः ।

बीचं (८।३।)

प्राहृत में कही-कही एक पद में भी संधि हो जाती है। इसी के अनुसार यहाँ 'विद्वां' का 'बीओ' बना है।^१

हस्त का दीर्घीकरण—**अन्यरामिति (६।१८)**

इसमें रकार दीर्घ है।

बहुनिष्ठिमा फला (७।३।३)

इसमें यकार दीर्घ है।

२—कारक**अन्तन्वा (२।१)**

इसका प्रयोग कर्तृवाचक बहुवचन में हुआ है, पर उसे कर्मवाचक बहुवचन में भी माना जा सकता है। इस स्थिति में वह वब्ल आदि वस्तुओं का विशेषण होगा।^२

अन्तन्वन् अन्तन्वन्ती (४। सूत्र १)

अध्ययन होने से—अध्ययन की प्राप्ति के द्वारा चित्त-विशृद्धि का हेतु होने से, धर्म-प्रज्ञति होने से—धर्म की प्रजापता के द्वारा चित्त-विशृद्धि का हेतु होने से—ये दोनों हेतु हैं। निमित्त, कारण और हेतु में प्रायः मभी विभक्तियाँ होती हैं, इमलिंग, यहाँ दोनों शब्दों में हेतु में प्रथमा विभक्ति है।^३

अन्यत्र सत्त्वपरिणएषं (४। सूत्र ४)

अन्यत्र शब्द के योग में वंचमी विभक्ति होती है। जेस—अन्यत्र भीष्माद् गांगेयाद्, अन्यत्र च हनूमत । अत इसका मंगूह रूप होगा—अन्यत्रशत्वपरिणतात् ।

तत्स (४। सूत्र १०)

यहाँ सम्बन्ध या अवयव अर्थ में यष्टी विभक्ति है।

१—हेमशब्दानुशासन, ८।३।५ :

पदयोः सञ्चिर्दी ।

२—दर्शकालिक, भाग २ (सूल, सार्व, सटिप्पण), पृष्ठ २६

३—हारिमझीय टीका, पत्र १३८ :

निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां (विभक्तीसां)

प्रायो दर्शनमिति वस्त्रात् हेतौ प्रथमा ।

४—बही, पत्र १४४ :

सम्बन्धलक्षणा अवयवलक्षणा वा वल्ली ।

विभक्ति-विहीन—

इच्छेष (२१४)

यहाँ 'एवं' शब्द के अनुस्वार का लोप हुआ है।^१

कारणमुम्पान्ते (५।२।३)

यहाँ कारण में विभक्ति का निर्देश नहीं है। समसी के स्थान में मकार अलाक्षणिक है।

व्यत्यय—

इच्छेसि स्वरूपं जीवनिकायाणं (४।मूल २)

यहाँ समसी के अर्थ में घटी विभक्ति है।^२

अन्तेन मरोत्तम (५।१।६)

यहाँ समसी के अर्थ में तृतीया विभक्ति है।^३

बीषमु हरिष्टमु (५।१।५७)

यहाँ तृतीया के अर्थ में समसी विभक्ति है।

महिं (६।२।४)

यहाँ समसी के अर्थ में द्वितीया विभक्ति है।

वीष्मए (७।२।८)

यहाँ चतुर्थी के अर्थ में प्रथमा विभक्ति है।

मोगेत्तु (८।३।४)

यहाँ पंचमी के अर्थ में समसी विभक्ति है।^४

१—हैमशब्दानुसासन, ८।१।२९ :

मांसादेवा अमेन 'एवं' शब्दस्य अनुस्वारलोपः ।

२—हरिमहाय दीक्षा, पञ्च १४३ :

मुपां सुपो मवन्तीति सप्तम्यर्थे चली ।

३—यही, पञ्च १६४ :

छान्वसत्वात् सप्तम्यर्थे तृतीया ।

४—यही, पञ्च २३३ :

मोगेत्त्यो चन्देकहेतुम्यः ।

बुद्ध व्ययणे (१०।१६)

यहाँ तृतीया के अर्थ में सहमी विभक्ति है ।^१

तस्त (चू०२।३)

यहाँ पंचमी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है ।^२

गुणमो समं (चू०२।१०)

यहाँ तृतीया के अर्थ में पचमी विभक्ति है ।^३

कि मे कङ्क (चू०२।१२)

यहाँ 'मे' मे तृतीया के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है ।^४

३—वचन

जे न मुञ्जन्ति न से चाइ ति बुद्धवाद (२।२)

'भूजन्ति' बहुवचन है और 'मे चाइ' एकवचन । टीकाकार बहुवचन एकवचन की असंरचित देख कर उसका स्थानकरण करते हुए लिखते हैं—सूत्र की गति—रचना विचित्र प्रकार की होने मे तथा मागधी का संस्कृत मे विपर्यय भी होता है, इसलिए ऐसा हुआ है ।^५

'मे चाइ' यहाँ बहुवचन के स्थान में एकवचन का प्रयोग हुआ है—यह व्यास्त्याकारों का अभिमत है । अगस्त्यमिह म्यविर ने बहुवचन के स्थान मे एकवचन का आदेश माना है ।^६ जिनदास महानर ने एकवचन के प्रयोग का हेतु आगम रचना-शीली का वैचित्र्य

१—हारिनदीपी टीका, पत्र २६६ :

बुद्धवचन इति तृतीयार्थं सहमी ।

२—बही, पत्र २७९

तत्पेति पञ्चम्यर्थं षष्ठी ।

३—बही, पत्र २८२ :

गुणतः समं वा तृतीयार्थं पंचमी गुणैस्तुत्यं वा ।

४—बही, पत्र २८३ :

कि मे कृतमिति छान्दसत्त्वान् तृतीयार्थं षष्ठी ।

५—बही पत्र ९१ :

किं बहुवचनोद्देश्येकवचननिर्देशः ?, विचित्रत्वात्सूत्रगतेर्विवर्यश्च भवत्येवेति कृत्वा ।

६—आगस्त्य चूर्णि :

बहुवयणस्त्वाणे एगवयणमादितुं ।

सुखमुखोच्चारण और स्वयं-लाभद माना है।^१ हरिमद ने बचन-परिवर्तन का कारण रचना-शैली की विविच्छिन्नता के अनिरिक्त विपर्यय और माना है।^२ प्राकृत में विभक्ति और बचन का विपर्यय होता है।

अभिहृतादि (३।१२)

यह शब्द बहुवचनांत है। अभिहृत के स्वप्राम-अभिहृत, परप्राम-अभिहृत आदि प्रकारों की सूचना देने के लिए ही बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

गिर्मेसु (३।१२)

प्रीध्य-ऋतु में यह कार्य (आतापना) प्रति कर्त्ता करणीय है, इसलिए इसमें बहुवचन है।

मन्त्रे (६।१८)

प्राकृत शैली में यहाँ बहुवचन में एकवचन का प्रयोग है और साथ-साथ पुरुष-परिवर्तन भी है।

इसिणा (६।४६)

चूणिद्वय के अनुसार यह तृतीया का एकवचन है।^३ टीकाकार के अनुसार वष्टी का बहुवचन।

१—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ८२ :

विवित्तो सुतनिष्ठं भवति, सुहमुहोच्चारणस्यं नंतलाघवस्यं च ।

२—हारिमद्वीय टीका, पत्र ९१ :

वेलिए—पृ० २६ पा०टि०५ ।

३—वष्टी, पत्र ११६ :

अस्याहुतानि बहुवचनं स्वप्रामपरप्रामनिरीक्षादिभेदस्यापनार्थम् ।

४—वष्टी, पत्र ११९ :

प्रीज्ञाविषु बहुवचनं प्रतिवर्तकरणापनार्थम् ।

५—वष्टी, पत्र १३८ :

‘मन्त्रे’ मन्त्रसे प्राकृतशैल्या एकवचनम्, एकमात्रस्तीर्थकरणपराः ।

६—(क) अगस्त्य चूर्णि : इसिणा—साधुणा ।

(क) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ८२७ : इसिणा जाव साधुणा ।

७—हारिमद्वीय टीका, पत्र २०३ :

वष्टीणां—साधुणाम् ।

४—समाप्ति

पंचाशत्परिज्ञाता (३।११)

संस्कृत में इसके दो रूप बनते हैं—‘पञ्चाशत्परिज्ञाता’ और ‘परिज्ञातपञ्चाशता’। टीकाकार का अभिमत है कि ‘आहिताम्यादे’ यह आकृति गण है और इसमें निष्ठा-प्रत्यय का पूर्व निपात नहीं होता। अतः प्रथम रूप निष्पन्न होता है। दूसरा रूप मर्वसम्पत ही है।^१

परीषहितमत्ता (३।१३)

प्राकृत में पूर्वायरपद-नियम की व्यवस्था नहीं है। संस्कृत में इसके दो रूप बनते हैं—‘परीषहितपुदान्ता’ और ‘दान्तपरीषहितपद’। ‘आहिताम्यादे’—इसमें निष्ठा-प्रत्यय का पूर्वनिपात नहीं होता। अतः प्रथम रूप निष्पन्न होता है और पूर्व-निपात करने पर दूसरा रूप।^२

५—प्रत्यय

कीयण्ड (३।१२)

यहाँ ‘कीय’ शब्द में भाव में निष्ठा प्रत्यय है।^३

अवंपितो (५।१।२३)

शीलादर्थस्येऽ—इस सूत्र से ‘इर’ प्रत्यय हृता है। संस्कृत में इसके स्थान पर ‘तृत्’ प्रत्यय होता है। हरिभद्र सूरि ने इसका संस्कृत रूप ‘अजल्पन्’ दिया है।

आहारमद्य (८।२८)

यहाँ ‘मद्य’ मर्यट् प्रत्यय के स्थान में है।^४

१—हारिमद्वीय टीका, पत्र ११८,

पञ्चाशता: परिज्ञाता यैसे पञ्चाशत्परिज्ञाता:, आहिताम्यादेराहुतिगत्वान्त निष्ठायाः पूर्वनिपात इति समासो युक्त एव, परिज्ञातपञ्चाशता इति चा।

२—वही, पत्र ११९ :

परीषहा एव रिपदः, दान्ता: यैसे परीषहितपुदान्ता:, समाप्तः पूर्वक् न प्राहुते पूर्वायरपदनियमव्यवस्था ।

३—वही, पत्र ९८ :

क्रीतहृतं-क्रम्यन्—क्रीतं, यावे निष्ठा प्रत्ययः ।

४—हेमसत्त्वानुगात्मनः दा। २। १४५ ।

५—पाइयसद्भूषण, पृष्ठ ८१८ ।

६-लिङ्ग

पंचनिमित्तमात्रा धीरा (३।११)

'निमाहणा' इसमें ल्युट् (अनट्) प्रत्यय कर्ता में हुआ है, अतः यह पुलिङ्ग है।^१

लिङ्ग-व्यत्यय—

जेन (८।४७)

यहाँ स्त्रीलिङ्ग 'यथा' के स्थान पर पुलिङ्ग 'येन' है।

मयाजि सम्बाजि (१०।१६)

यहाँ पुलिङ्ग के स्थान पर नपुसंक लिङ्ग है।

७-क्रिया और अर्द्धक्रिया

लक्ष्मामोऽुद्वहमर्दि (१।४)

यहाँ पहली क्रिया का प्रयोग भविष्यत् काल और दूसरी का वर्तमान काल में किया गया है। उससे उस वैकालिक नियम की सूचना दी गई है कि मुनि को सर्वदा यथाकृत भोजन लेना चाहिए।^२

अहवाएक्ष्या (४ सू० ११)

प्राकृत शैली के आधार पर टीकाकार ने यहाँ पुरुष का व्यत्यय माना है—प्रथम-पुरुष के स्थान में उत्तमपुरुष माना है।^३

मुञ्जमाणाणं (५।१।३८)

भुज् धातु के दो अर्थ हैं—पालना और खाना। प्राकृत में धातुओं के परस्मै और आत्मस्मै पद की व्यवस्था नहीं है, इसलिए संस्कृत में 'भुजमाणाण' शब्द के संस्कृत स्पानर दो बनते हैं—(१) 'भुजतों' और (२) 'भुजानयोः'।

१-हारिमदीय टीका, पत्र ११९ :

कर्तरि ल्युट्।

२-जही, पत्र ७२ :

वर्णमानैव्यत्कालोपन्नासास्त्रैकालिकन्यायप्रवर्णनार्थः।

३-जही, पत्र १४५ :

प्राकृतशैल्या छान्वत्स्वात् 'तिहाँ तिहो भवस्ती' ति व्यापात नेब स्वयं प्राणिः अतिपात्स्वामि।

सिया (६।१८)

अगस्त्यसिंह स्वविर ने 'सिया' को क्रिया माना है।^१ जिनदास महत्तर और हरिभद्र ने 'सिया' का अर्थ कदाचित् किया है।^२

आरंति परिहर्ति (६।१९)

ये दोनों सामयिक (आगम-प्रसिद्ध) धातुएँ हैं।

परिग्रहे (६।२१)

चूणिकार ने 'परिग्रहे' को क्रिया माना है।^३ टीकाकार ने इसे मसमी विभक्ति का रूप माना है।^४

छलंति (६।५।१)

चूणिड्य के अनुसार वह धातु 'षणु हिसायाम्' है।^५ टीकाकार ने 'छिपति' पाठ मान कर उसके लिए संस्कृत धातु 'जिघननज् प्रेरणे' का प्रयोग किया है।^६

गच्छामो (७।६)

यहाँ 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा'—इस सूत्र के अनुसार निकट भविष्य के अर्थ में वर्तमान विभक्ति है।^७

१—अगस्त्य चूर्णि :

सियादिति भवेत् भवेत् ।

२—(क) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २२० :

सिया कदाचित् ।

(ख) हारिमद्रीय टीका, पत्र १९८ :

यः स्यात्—यः कदाचित् ।

३—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २२२ :

'संरक्षण परिग्रहो' नाम संज्ञमरक्षणमिति परिग्रहंति ।

४—हरिमद्रीय टीका, पत्र १९९ :**५—(क) अगस्त्य चूर्णि**

छलंति षणु हिसायामिति हिसिज्जति ।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २२८ :

छलंतो हिमाए बट्टै ।

६—हारिमद्रीय टीका, पत्र २०४ :

जिघनते—हिस्यन्ते ।

७—मिथुनाब्दानुसारन, ४।४।७६ ।

लक्ष्य (८।१)

अगस्त्य चूर्णि और टीका के अनुसार यह 'पूर्वकालिक क्रिया' (कत्वा प्रत्यय) का और जिनदास चूर्णि के अनुसार यह 'तुम्' प्रत्यय का रूप है ।^२

अविद्युए (८।६१)

टीका में 'अहिद्वृग्' का संस्कृत रूप 'अविष्ठाता' है । किन्तु 'तब' आदि कर्म है, इमलिया यह 'अहिद्वृ' धार्तु का रूप होना चाहिए ।

८-क्रिया-विशेषण

जय (५।१।६)

यह 'परकमे' क्रिया का विशेषण है ।^३

निउण (६।८)

अगस्त्य चूर्णि के अनुमार 'निउण' शब्द 'दिद्वा' क्रिया का विशेषण है । 'जिनदास चूर्णि' और टीका^४ के अनुसार 'निउण' मूल पाठ है और वह 'अहिमा' का विशेषण है ।

६. आर्थ-प्रयोग

वत्थरांधमलंकारं (२।२)

यहाँ गंध का अनुभ्वार अलाक्षणिक है ।^५

१-(क) अगस्त्य चूर्णि :

लक्ष्य पादिकण ।

(क) हारिमद्रीय टीका, पत्र २२७ ।

लक्ष्या प्राप्य ।

२ -जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २७१ :

(लक्ष्य) प्राप्ये ।

३-हारिमद्रीय टीका, पत्र १६४

यत्प्रिति क्रियाविशेषणम् ।

४ अगस्त्य चूर्णि :

निषुणं सब्दपाकारं सब्दसत्तगता इति ।

५-जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २१७ :

अहिमा जिनसासमे निउणा…… ।

६-हारिमद्रीय टीका, पत्र १९६

निषुणा आवाकर्माक्षयरिमोगतः हस्तकारिताविषयिहरेण सूख्या ।

७-बही, पत्र ९१ :

निषुणारोऽस्त्राक्षयिः ।

परिव्यंतो (२१४)

अगस्त्यसिंह् स्थविर ने 'परिव्यंतो' के अनुस्वार को अलाक्षणिक माना है।^१ वैकल्पिक रूप में इसे मन के साथ जोड़ा है।^२ जिनदास महत्तर 'परिव्यंतो' को प्रथमा का एकवचन मानते हैं और अगले चरण से उसका सम्बन्ध जोड़ने के लिए 'तत्स' का अध्याहार करते हैं।^३

कहुम् (४११-६)

यहाँ अनुस्वार अलाक्षणिक है।^४

ताम्रहितो (५१११४)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

वित्तलं (५१२१४३)

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

एसमाधाऽतो (६।३४)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

आहारमाईषि (६।४६)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

एषमहुं (६।५०)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

मंचमासालएत् (६।५३)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

कुद्युतमहितुगा (६।५४)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

१-अगस्त्य चूर्णि :

कृतमंगमयात् अलक्षणो अनुस्वारो ।

२-बही :

अहवा तवेव मणोऽमिसंबभृति ।

३-जिनदास चूर्णि, पृ० ८४ :

परिव्यंतो नाम मामषग्राहीणे उव्वेसेऽनि विचरतो त्ति कुतं मवह तस्म ।

४-हारित्सदीय दीका, पत्र १४०, १५६ :

'कहुम्' अनुस्वारोऽलाक्षणिकः ।

असिनाशमहित्तुगा (६।६२)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है ।

समस्तमाऊहे (६।६१)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है ।

बथणंकरा (६।२।१२)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है ।

उबहिणामवि (६।२।१८)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है ।

निष्कलम्भ-माणाए (१०।११)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है ।

१०—विशेष-विमश

विरत्थु ते जसोकामी (२।७)

चूर्णिकार और टीकाकार ने 'जसोकामी' की 'यशकामित्' और अकार लोप मान कर 'अयश कामित्'—इन दो स्पौदों में व्याख्या की है ।^१

छत्तस्स य धारणद्वाए (३।४)

टीकाकार लिखते हैं—अनर्थ—बिना मतलब अपने या दूसरे पर छत्र का धारण करना अनाचार है ।^२ आगाढ रोमी आदि के द्वारा छत्र-धारण अनाचार नहीं है । प्रश्न हो सकता है कि टीकाकार अनर्थ छत्र-धारण करने का अर्थ कहाँ से लाए ? इसका स्पष्टीकरण न्वयं टीकाकार ने ही कर दिया है । उनके मत से सूत्र-पाठ अर्थ की दृष्टि से 'छत्तस्स य धारणमणद्वाए' है । किन्तु पद-रचना की दृष्टि से प्राकृत-शब्दी के अनुमार, अकार और नकार का लोप करने से, 'छत्तस्स य धारणद्वाए' ऐसा पद शेष रहा है । साथ ही वह कहते हैं—परम्परा से ऐसा ही पाठ मान कर अर्थ किया जा

१—(क) विनदास चूर्णि, कृष्ण वद ।

(ख) हारिमदीय टीका, पत्र ९६ ।

२—हारिमदीय टीका, पत्र ११७ :

छत्रस्य च सोकप्रसिद्धस्य धारणमात्मानं परं चा प्रति अनर्थाय इति, आगाढ-स्तानाद्यालम्बनं मुक्त्वाऽन्ताचरितम् ।

रहा है। अत श्रुत-प्रमाण भी इसके पक्ष में है। इस तरह टीकाकार ने 'बद्धाए' के स्थान में 'अण्डाए' शब्द ग्रहण कर अर्थ किया है।^१

पाञ्चाहा (३१४)

यह प्राकृत शब्द 'उवाहणा' का संक्षिप्त रूप है।

धूमजेति (३१६)

इस शब्द की व्याख्या 'धूपनमिति' और 'धूमनेत्र' इन दो रूपों में की गई है।^२ धूमनेत्र का अर्थ है—धुआँ पीने की नली।

जे य कीटपर्यंगा, जा य कुंथुपिकीलिम्या (४।४०६)

यहाँ उद्देश का व्याख्या है। कीट द्विप्रिय, परंग कतुरिन्द्रिय और कुछ तथा पिपीलिका त्रीनिद्रिय है। इनका क्रमशः उल्लेख होना चाहिए या, परन्तु सूत्र की गति विचित्र होना है और उसका क्रम अनंत्र होना है—तंत्र में नियंत्रित नहीं होता, इसलिए यहाँ ऐसा हुआ है, यह टीकाकार का अभिमत है।^३

किन्तु हमारे अभिमत में इस व्याख्या का कारण छन्दोबद्धता है। सम्भवतः ये दोनों किसी गाथा के चरण हैं, जो ज्यों के त्यो उद्भूत किए गए हैं।

से सुहूमं (४।४०११)

'से' शब्द मगध देश में प्रसिद्ध 'अथ' शब्द का वाचक है।^४

ओमाहंसि अजाइया (५।१।१८)

यह पाठ दो स्थानों पर है—यहाँ और ६।१३ में। पहले पाठ की टीका—

१—हारिमद्रीय टीका, पत्र ११७ :

प्राकृतशैल्या चात्रामुखारलोपोऽकारनकारलोपौ च इष्टव्यौ, तथा भूति-प्रामाण्याविति ।

२—यही, पत्र ११८ :

प्राकृतशैल्या अनागतव्याधिनिवृत्ये धूमपानमित्यन्ये व्याख्यते ।

३—यही, पत्र १४२ :

ये च कीटपत्राः इत्यादाखुदेशव्ययः किमर्द्यम्? उच्चते 'विचित्रा सूत्र-गतिरत्नत्रः क्रम' इति ज्ञापनार्थम् ।

४—यही, पत्र १४४ :

से शब्दो मागधदेशप्रसिद्धः अथ शब्दार्थः ।

'अवश्वस्याचित्वा' और दूसरे पाठ की टीका—'अवग्रहे यस्य तत्तमयाचित्वा' है। 'ओमाहंसि' को समसी का एकवचन माना जाए तो इसका संस्कृत-रूप 'अवग्रहे' बनेगा और यदि 'ओमाहंसि' ऐसा पाठ मान कर 'ओमाहं' को द्वितीया का एकवचन तथा 'से' को षष्ठी का एकवचन माना जाए तो इसका संस्कृत-रूप 'अवग्रहं तस्य' होगा।

अल्पोदय (५।१।५५)

टीकाकार 'अज्ञोदय' का संस्कृत-रूप 'अध्यवपुरक' करते हैं। यह अर्थ की दृष्टि से सही है पर छाया की दृष्टि से नहीं, इसलिए हमने इसका संस्कृत-रूप 'अध्यवतर' किया है।

सन्निहीकामे (६।१८)

चूर्णिकारो ने 'सन्निधिकाम' यह एक शब्द माना है।^२ टीकाकार ने 'कामे' को किया माना है। उनके अनुसार 'सन्निहि कामे' ऐसा पाठ बनता है।^३

अहिङ्गामे (८।४६)

इसका संस्कृत-रूप 'अधीयानम्' किया गया है।^४ चूर्णि और टीका का आशय यह है कि जो सम्पूर्ण द्वित्वाद को पढ़ लेता है, वह भाषा के सब प्रयोगों से अभिज्ञ हो जाता है, इसलिए उसके बोलने में लिङ्ग आदि की स्वलना नहीं होती और जो वाणी के सब प्रयोगों को जानता है, उसके लिए कोई शब्द अशब्द नहीं होता। वह अशब्द को भी सिद्ध कर देना है। स्वलना प्राय वही करता है, जो द्वित्वाद का अध्ययन पूर्ण

१—हारिमद्रीय टीका :

(क) पत्र, १६७।

(ख) पत्र, १९७।

२—(क) अगस्त्य चूर्णि :

सन्निधी मणितो, तं कामयतीति—सन्निहीकामो ।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २२० :

सन्निहि कामयतीति सन्निहिकामी ।

३—हारिमद्रीय टीका, पत्र १९८ :

अन्यतराद्यपि स्तोकामपि 'यः स्यात्' यः कदाचित्सन्निधि 'कामयते' सेवते ।

४—(क) अगस्त्य चूर्णि :

दिट्टिवादमचिङ्गां—दिट्टिवादमज्जमयणपरं ।

(ख) हारिमद्रीय टीका, पत्र २३६ :

दिट्टिवादमधीयानं प्रकृतिप्रत्यपलोपागमवर्जविकारकालकारकादिवेदिनम् ।

नहों कर पाता ।^१ दृष्टिवाद को पढ़ने वाला बोलते में चूक सकता है, लेकिन जो उसे पढ़ चुका, वह नहीं चूकता—इस आशय को ज्ञान में रख कर चूर्णिकार और टीकाकार ने इसे 'अधीयान' के अर्थ में स्वीकृत किया है । किन्तु इसका संस्कृत-रूप 'अभिज्ञक' होता है । 'अधीयान' के प्राकृत रूप—'अहिज्जंत' और 'अहिज्जमाण' होते हैं ।^२

तमेव (८।६०)

अगस्त्य चूर्णि और टीका के अनुसार यह श्रद्धा का सर्वनाम है और जिनदास चूर्णि के अनुसार पर्याय-स्थान का । आचारांग तृती में इसे श्रद्धा का सर्वनाम माना है ।^३

चंदिमा (८।६३)

इसका अर्थ व्याख्याओं में चन्द्रमा है ।^४ किन्तु व्याकरण की दृष्टि से चन्दिका होता है ।^५

मय (६।१।१)

मूल शब्द 'माया' है । छन्द-रचना की दृष्टि से 'मा' को 'म' और 'या' को 'य' किया गया है ।^६

१-(क) अगस्त्य चूर्णि : अधीतस्त्ववातोगतविसारदस्त नत्य त्वस्ति ।

(ल) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २८९ :

अथिज्ञियगहणेण अधिज्ञमाणस्स वयग्नललणा पायतो मवह, अधिज्ञिए पुण निरवेसे दिट्ठिवाए सम्भवयोयजाणगत्तेण अप्यमत्तेण य वृत्ति-विकल्पियमेव नत्य, सम्भवयोगतविद्याणया असद्मवि सद्दं कुञ्जा ।

२-पाहयसद्महण्णव, पृष्ठ १२१ ।

३-(क) अगस्त्य चूर्णि : तं सद्दं पवज्जासमकालिणि अगुपालेज्जा ।

(ल) हारिमद्वीय टीका, पत्र २३८ :

तामेव श्रद्धामप्रतिपत्तितया प्रवर्द्धमानामनुपालयेत् ।

४-अगस्त्य चूर्णि : चन्दिमा चन्द्रमा ।

५-हेमशब्दानुशासन, ८।१।१८५ : चन्द्रिकायां मः ।

६-(क) अगस्त्य चूर्णि : मय इति मायातो इति एत्य आयारस्म हुस्तता ।

सहस्रताय लक्षणविक्ष्याए अस्ति जघा—हुस्तो शपुंसके प्रातिपदिकस्य पराते विसेषं जघा एत्य 'व' 'वा' सहस्त ।

(ल) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ३०१ :

मयगहणेण मायागहणं मयकारहस्तसं बंधानुलोमकर्यं ।

(ग) हारिमद्वीय टीका, पत्र २४२ :

मायातो—निहृतिरूपायाः ।

सिंघं (६।२।२)

प्राकृत में इलाध के 'सर्वं' और 'सिंघं' दोनों रूप बनते हैं। यह श्रुत का विदेषण है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'सर्वं' का प्रयोग किया है।^१

सूत्रहत्तांग (३।२।१६) में भी 'सर्वं' रूप मिलता है—'भुज भोगे इमे सर्वे'।
सुत्यस्थविमर्शम् (६।२।२३)

इसकी दो व्युत्तरितियाँ—'जिसने अर्थ-धर्म मुना है' अथवा 'धर्म का अर्थ मुना है जिसने'— मिलती हैं।^२

मुञ्चसाहृ (६।३।११)

यहाँ 'असाहृ' शब्द के अकार का लोप किया गया है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने यहाँ समान की दीर्घता न कर किंतु (कृतान्त—कृतो अन्तो येन) की तरह 'पररूप' ही रखा है।^३ जिनदास महत्तर ने ग्रन्थ-लाधव के लिए अकार का लोप किया है—ऐसा माना है।^४ टीकाकार ने प्राकृतगीती के अनुसार 'अकार' का लोप माना है।^५ यहाँ 'गुण' शब्द का अध्याहार होता है—'मुञ्चसाधुगुणा' अर्थात् असाधु के गुणों को छोड़।^६

विद्याणिदा (६।३।११)

टीकाकार ने 'विद्याणिदा' का संकृत-रूप 'विज्ञापयति' किया है किन्तु इसका मस्तून-रूप जो 'विज्ञाय' होता है, वह अर्थ की दृष्टि से सर्वथा संगत है।

१—(क) अगस्त्य चूर्णिः :

सुलं च सर्वं साधणीयमविगच्छति ।

(ख) हारिमदीय टीका, पत्र २४७ :

श्रुतम् अंगप्रविद्वादि इलाध्यं प्रशंसास्यदभूतम् ।

२—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ३१७ :

सुयोत्स्थविमर्शो जेहि ते सुत्यस्थविमर्शा नीयत्यिति बुतं मबहु अहवा सुओ अत्थो अस्मस्त जेहि ते सुत्यस्थविमर्शा ।

३—अगस्त्य चूर्णिः :

एत्य च समागदीर्घतः किन्तु पररूपं कृतं वदिति ।

४—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ३२२ :

गंवलाधवत्थविमर्शकाक्षण एवं वदित्तजड जहा मुञ्च साधुति ।

५—हारिमदीय टीका, पत्र २५४ ।

६—अगस्त्य चूर्णिः :

मुञ्चासाधु गुणा इति वयष्म सेसो ।

११—क्रम-भेद

जा य बुद्धेहिंजाहना (७।२)

स्लोक के इस चरण में असत्यामृता का प्रतिपादन है। वह क्रम-दृष्टि से 'जा य सच्चा अवस्था' के बाद होना चाहिए था, किन्तु पद्म-रचना की अनुकूलता की दृष्टि से विभक्ति-भेद, वचन-भेद, लिङ्ग-भेद, क्रम-भेद हो सकता है, इसलिए यहाँ क्रम-भेद किया गया है।^१

तरितु ते ओहमिण दुरुतरं (६।२।२३)

यह पद 'खवितु कर्म' के पश्चात् होना चाहिए था। किन्तु यहाँ पश्चादीपक सूत्र रचना-शैली से उसका पहले उपन्यास किया गया है, इसलिए यह निर्दोष है।^२

१—(क) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २४४ :

बडलीवि जा अ बुद्धेहि जाइग्रागहणेण असच्चामोसावि गहिता,
उक्कमकरणे मोसावि गहिता एवं कन्धामुलोमत्वं, इतरहा सच्चाए,
उवरिमा माणिक्या, मंदाण्डुलोमत्वाए विमतिमेवो होज्जा वयणमेवो
कसु(धी) पुमलिंगमेवो च होज्जा अत्वं अमुञ्जतो ।

(क) हारिमद्रीय टीका, पत्र २।१३ :

या च 'बुद्धेः' तीर्त्तिकरणव्यधरेनाचरिता असत्यामृता आमंत्रण्यापन्ना-
दिलक्षणा ।

२—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ३।१७ :

'पुम्बि खवितु कर्ममिति' बत्त्वे कहं तरितु ते ओहमिण दुरुतरंति
पुष्टमणियं ? आयरिको आह—पञ्चादीवगो जाम एस सुत्तवंबोत्तिकाऽन्न
त दोसो मवइ ।

५-भाषा की हृष्टि से

इसमें अर्धमागधी और जैन-महाराष्ट्री आदि के संबलिन प्रयोग हैं। 'हृत्यंसि वा', 'पायसि वा' (४३० २३) में अर्धमागधी के प्रयोग हैं। प्राकृत में सप्तमी के एकवचन के दो रूप बनते हैं—हृत्ये, हृत्यमिमि।^१ 'हृत्यंसि' यह अर्धमागधी में बनता है। 'जे' (२३), 'करेमि' (४३० १०)—इनमें 'ओकार' के स्थान में जो 'एकार' है वह अर्धमागधी का लक्षण है।^२

मणसा (८१३), जोगसा (८१७)—ये अर्धमागधी के प्रयोग हैं। प्राकृत में ये नहीं मिलते।

बहवे (३१४८), 'बहु' शब्द का प्रथमा का बहुवचन, जसोकामी (२१७), दोज्ज्वे (४३० १२), तज्ज्वे (४३० १३), सोज्ज्वा (४११), लदूण (५१२१४७), ऊसठं (५१२१२५), संवुड (५१११८३), परिवुड (६१११५), कड (४२०), कटुँ (च०११४) आदि-आदि तथा मकार के अलाक्षणिक प्रयोग, जिनका यथास्थान निरदेश किया गया है, ये सब अर्धमागधी के प्रयोग हैं, जिन्हे हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण में आर्य-प्रयोग कहा है। हियटुयाए (४३० १७)—यहाँ स्वार्थ में 'या' और 'य' के स्थान में 'एकार' का प्रयोग है, जो प्राकृत-सिद्ध नहीं है। 'तेइदिया' में 'ति' का 'ते' हुआ है। यह अर्धमागधी का प्रयोग है।^३ कहीं शौरसेनी के लक्षण भी मिलते हैं, जैसे—अत्तदं (आत्मवान्) (८१४८) यहाँ 'न' को 'म' किया है, जो शौरसेनी में होता है।^४

देवी या अपन्ने शब्दों के प्रयोग भी प्रचुर हैं। गावी (५१११२) को पतञ्जलि 'गो' शब्द का अपन्ने शब्द बतलाते हैं।^५ आचार्य हेमचन्द्र ने प्राकृत-भाषा-विशेष के शब्दों को 'देवी' माना है।^६

१-हेमशब्दानुशासन, ८१११ :

देवि प्लि डे : ।

२-बही, ८४१२८७ :

अत एतसौ पुंसि मावःयाम् ।

३-प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पेरा ४३८, पृष्ठ ६५१ ।

४-हेमशब्दानुशासन, ८४१२६४ :

मो वा ।

५-पातञ्जलि महाभाष्य, पत्प्रशान्तिः :

एकस्वैयं गोशब्दस्य गावी-गोर्णी-गोता-गोपोतलिकेत्याद्योऽनेतेऽपरतत्वा : ।

६-देवीनामभाषाता, १४ :

देवसिसपसिद्धीह मण्माणा सण्मत्या हृन्ति ।

तम्हा अणाइपाइपयहृमासाविसंज्ञो देवी ॥

६—शारीर-परामर्श

दण्डवेकालिक के दश अध्ययन हैं। उनमें पाँचवें के दो और नवें के चार उद्देशक हैं, वे अध्ययनों के उद्देशक नहीं हैं।

चौथा और नवाँ अध्ययन गदा-पद्धात्मक है, जोष सब पद्धात्मक हैं। उनका विवरण इस प्रकार है :

अध्ययन	इलोक	सूत्र
१—द्रुमपुष्पिका	५	
२—श्रामण्य-गुरुक	११	
३—भूलक्काचार	१५	
४—धर्म-प्रज्ञनि या षड्-जीवनिका	२८	०३
५—पिण्डैषणा	१५०	
६—महाचार	६८	
७—वाक्यशृङ्खि	५७	
८—आचार-प्रणिधि	६३	
९—विनय-समाधि	६२	७
१०—समिक्षा	२१	
चूलिका		
१—रनिवाक्या	१८	१
२—विविन्दसर्वी	१६	

चूर्णिकार और टीकाकार पद्धा-संख्या के बारे में एक मत नहीं है। निर्युक्तिकार ने जैसे अध्ययनों के नाम, उनके विषय और अधिकारों का निरूपण किया है, वैसे ही इनकी इलोक-संख्या का परिमाण वताया होता तो चूर्णिकार और टीकाकार की दिशाओं इतनी भिन्न नहीं होती। टीकाकार के अनुसार दण्डवेकालिक के पद्धो की संख्या ५०६ और चूलिकाओं की ३४ है। जबकि चूर्णिकार के अनुसार ज्ञानश ५३६ और ३३ होती है। बहुत अन्तर पाँचवें और सातवें अध्ययन में है। पाँचवें अध्ययन के पहले उद्देशक की पद्धा-संख्या १३०, दूसरे की ४८; सातवें अध्ययन की ५६ और पहली चूलिका की १७ है।

शास्त्रों के नाम निर्देश्य और निर्देशक दोनों के अनुसार होते हैं।^१ दण्डवेकालिक के अध्ययनों के नाम प्रायः निर्देश्य के अनुसार हैं। इसलिए अध्ययन के नाम से ही विषय

^१—मावश्यक निर्मुक्ति, गाया १४१, बृति पत्र १४१ :

निर्देश्यवशान् निर्देशकवशाच् द्विप्रकारमपि नैगमनयो निर्देशमिष्ठाति ।……

लोकोस्तरेऽपि निर्देश्यवशाद्, यथा—षट्-जीवनिका तत्र हि षट्-जीवनिकाया निर्देश्याः ।

का बोध हो जाता है। निर्युक्ति के अनुमार पहले अध्ययन (द्रुमपुष्पिका) का विषय (अर्थात् विकार) धर्म-प्रशंसा है। धर्म का पालन धृति के द्वारा ही किया जा सकता है, यह दूसरे अध्ययन (श्रामण्य-पूर्वक) का विषय है। तीसरे अध्ययन (भुल्लकाचार) में आचार का संक्षिप्त वर्णन है। चौथे अध्ययन (धर्म-प्रज्ञापि या षड्-जीवनिका) में आत्म-संयम के उपाय और जीव-संयम का निष्पत्ति है। पाँचवें अध्ययन (पिण्डेषणा) में भिक्षा की विशेषिति, छठे (महाचार कथा) में विनष्टुन आचार, सातवें (वाक्य-शुद्धि) में वचन-विभक्ति, आठवें (आचार-प्रणिधि) में प्रणिधान, नवें (विनय-समाधि) में विनय और दसवें (मधिष्ठु) में भिक्षु के स्वरूप का वर्णन है। जिसका चिन्तन संयम से डिगने हुए भिक्षु का आनन्दन बन सके, यह पहली चूलिका (रनिवाक्या) का विषय है। संयम में रत रहने में होने वाली गण-इद्धि और धर्म के प्रयास का कल दूसरी चूलिका (विविन्दवर्या) में वरतलाया है।^१

व्याख्याकारों के अभिमत में अध्ययनों का क्रम विषय-क्रम के अनुसार हुआ है। नव-दीक्षित भिक्षु को धर्म में सम्मोहन हो, इमलिए उसे धर्म का महत्त्व बतलाना चाहिए—यह इस आगम का ध्रुव-विन्दु है। धर्म का आचरण धृति-पूर्वक ही किया जा सकता है; धृति आचार में होनी चाहिए, आचार का स्वरूप^२ षट्काय के जीवों की दया और पाँच महाव्रत है—यह क्रमशः दूसरे, तीसरे और चौथे अध्ययन के क्रम का हेतु है। धर्माचरण का साधन शरीर है। वह खान-पान के बिना नहीं टिकता। आचार की आराधना करने वाला हिस्क पद्धनि में न ल्या,, इसलिए धर्म-प्रज्ञापि के बाद पिण्डेषणा का

१—वशबैकालिक निर्युक्ति, गाया २०-२४ :

पहमे धर्मपतंसा सो य इहेव जिनसासनमिति ।
 विहए विहए सकका कारं जे एस धर्मोति ॥
 तद्दै आयारकहा उ लुडिड्या आयसंजमोदाओ ।
 तह जीवसंजमोऽवि य होइ चउस्वंमि अज्ञयणे ॥
 भिक्षविसोही तवसंजमस्स गुणकारिया उ पंचमए ।
 छट्ठे आयारकहा माहई जोला यहयणस्स ॥
 वयणविभत्ति पुण-सत्तममिमि पणिहालमहुमे भणियं ।
 जवमे विणओ इसमे समाणियं एस भिक्षुति ॥
 दो अज्ञयणा चूलिय विसीययंते विरीकरणमें ।
 विहए विविलष्टिया असीयणगुणाहरेगफला ॥

२—अगस्त्य चूर्ण :

आयारो छकायदया पंचमहूव्याप्ति ।

कम प्राप्त होता है। पाँच महान्नत मूल गुण हैं। उनकी सुरक्षा के लिए उनके बाद उत्तर गुण बतलाए गए हैं।^१ पिण्डेयण के लिए जाने पर आचार के बारे में पूछा जा सकता है। आचार-निरूपण के लिए वचन-विभक्ति का ज्ञान आवश्यक है। वचन का विवेक आचार में प्रणिहित (समाधियुक्त) भिन्न के ही हो सकता है। आचार में जो प्रणिहित होता है, वह विनययुक्त ही होता है—यह छठे से नवें तक का क्रम है। पूर्ववर्ती अध्ययनों में वर्णित गुणों से सम्बन्ध व्यक्ति ही भिन्न होता है, इसलिए सबके अन्त में 'सभिन्न' अध्ययन है।^२ कर्मवक्ता संघर्ष में अत्यधिक बने भिन्न का पुनः स्थिरीकरण और उसका फल ये दो चूलिकाओं का क्रम है। इस प्रकार यह आगम 'धर्म उत्कृष्ट मंगल है' (धर्मो मंगलमुच्चिकठ्ठ—१।१) इस वाक्य से शुरू होता है और 'धर्म से सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त हो जाता है' (सुरक्षितो सवदुहाण मुच्चद—चूलिका २।१६) इस वाक्य में पूर्ण होता है।

१—अनन्त्य चूर्णि

तद्यु धर्मे धितिवतो आयारट्टिमस्स छक्कायदयापररस्स जासरीरो धर्मो
मवति, पहारं च सरीरधारणं रिदोति विडेसणाबसरो। अहवा
छज्जीवधियाद् पंचमह्मव्या भजिता ते मूलगुणा, उत्तरगुणा विदेशा, कहं ?
“पिंडस्त जा विसोधी०” (अ० भा० उ० गा०२८९) अतो छज्जीव-
धिकायार्थतरं पिडेशणा पाणातिवातरक्षणं ताव “उद्भोद्देश्य तृत्येण दद्वीए
मायणे” (अ०५, उ०१, गा०३३) एवनादि, मुसावदे “तदत्तेन वित्तेन”
(अ०५, उ०२, गा०४४) अदिष्ण द्वागे “कवाहं जो पणोल्लेज्जा, ओमाहृते
अजातिपा” (अ०५, उ०१, गा०१८) मेहुगे “ज चरेज वेससामंते”
(अ०५, उ०१, गा०९) पंचमे “अमुच्छितो मोयज्जम्मी” (अ०५, उ०२,
गा० २५) मुच्छा परिमहो सो निवारिज्जति ।

२—जही :

सभिन्नत्वायं न केवल मनसंतरेण जवहिं वि अज्ञयणेहिं अभिसंबन्धति, कहं ? जो
धर्मे धितिसंपत्तो आयारत्यो छक्कायदयावरो एसणासुद्धनोगी आयारकहण-
समत्यो विद्वारियविसुद्धवक्तो आयारेपभिन्नितो विणपसमाहित्या सनिक्षुलि
सभिन्नत्वायं ।

दिगम्बर-परम्परा के साहित्य में दण्डकालिक का विषय 'साधु' के जाचार-गोचर की विषि का वर्णन बतलाया है।¹

१-(क) अपश्वस्ता, पृष्ठ १२० :

साहृणमाधारनोयरविहिं दसवेयालियं वस्त्रेवि ।

(क) अपश्वस्ता, सत्प्रक्षयना (११११), पृष्ठ ९७ :

दसवेयालियं आधार-गोचर-विहिं वस्त्रेवि ।

(ग) अंगपत्त्वस्ति चूलिका, नाथा २४ :

जदि गोचरस्त विहिं पिंडविसुद्धि च चं वस्त्रेवि ।

दसवेयालियं सुतं बहुकाला अत्यं संकुर्ता ॥

७-छन्द-विमर्श

कुछ आधुनिक विद्वानों ने दशवेकालिक का पाठ-संशोधन किया, उसके साथ-साथ छन्द की हाइ से भी पाठ-संशोधन कर डाला। अनुष्टुप् श्लोक के चरणों में सात या नौ अक्षर थे, वहाँ पूरे आठ कर दिए। डा० ल्यूमेन ने ऐसा प्रयत्न बड़ी सावधानी से किया है, पर मौलिकता की हाइ से यह न्याय नहीं हुआ। छन्दों के प्रति आज का ध्यानिकोण जितना सीमित है, उनना पहले नहीं था।

वैदिक-काल में छन्दों के एक-दो अक्षर कम या अधिक भी होते थे। किसी छन्द के चरण में एक अक्षर कम होता तो उसके पहले 'निचृत' और यदि एक अक्षर अधिक होता तो उसके साथ 'भूरिक्' विशेषण लगा दिया जाता।^१ किसी छन्द के चरण में दो अक्षर कम होते तो उसके साथ 'विराज' और दो अक्षर अधिक होते तो 'स्वराज्य' विशेषण जोड़ दिया जाता।^२

आगम-काल में भी छन्दों के चरणों में अक्षर न्यूनाधिक होते थे। प्रस्तुत आगम में भी ऐसा हुआ है। अगस्त्यसिंह भूषणाठ के पूर्व श्लोक, द्वृत, सुत, इन्द्रवच्चा, उपेन्द्र-वच्चोपचाति, इन्द्रोपवच्चा, वैतालिक और गाथा का उल्लेख करते हैं।

अनुष्टुप् के प्रत्येक चरण में आठ-आठ अक्षर होते हैं किन्तु इसके अनुष्टुप् श्लोकों के चरण सात, आठ, नौ और दस अक्षर वाले भी हैं।

अगस्त्यसिंह भूषि के अनुसार इसमें द्वयर्ध-श्लोक भी है। उन्होंने इसके समर्थन में लोकिक भ्रत का उल्लेख किया है।^३

धर्म-पद का प्रारम्भ द्वयर्ध-श्लोक में ही होता है। वैदिक-काल में भावों पर छन्दों का प्रतिबन्ध नहीं था। भावानुकूल २, ३, ४, ५, ६, ७ और ८ चरणों के छन्दों का भी निर्माण हुआ है।^४

१—ऋक् प्रातिशास्य, पाताल ७

एतम्यूनाधिका सैव निष्टुत्तम्यिका शूरिक्।

२—शौनक, ऋक् प्रातिशास्य, पाताल १७।२ :

विराजैस्तूतरस्याहुर्व्याम्यां या विव्ये स्तिताः।

स्वराज्य एवं पूर्वस्य याः काश्चैवं गता ऋचः॥

३—वैद्यो—दशवेकालिक (मा० २) ४।३।१५ का टिप्पण, पृष्ठ ३०२।

४—आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-प्रोज्ञना, पृष्ठ ७५।

इस सूत्र के दस अध्ययन तथा दोनों चूलिकाओं के सम्मिलित श्लोक ५१४ हैं। प्रत्येक श्लोक के चार-चार चरण हैं। चरणों की कुल संख्या २०५६ हैं। इनमें अधिकांश चरण (लगभग ८० प्रतिशत) अनुष्टुप् छन्द के हैं और शेष अन्यान्य छन्दों के।

अनुष्टुप् छन्दों के निवद्ध चरणों में भी एकरूपता नहीं है। कहीं अक्षरों की अधिकता है और कहीं अनुकूलता।

कई चरणों में एक अक्षर अधिक है, जैसे—११२१२, ११४१२, ४१२६१। कई चरणों में दो अक्षर अधिक हैं, जैसे—६१२७१३, ८१५११, ८११४१। कई चरणों में तीन अक्षर कम हैं, जैसे—८१२११ आदि-आदि। कई चरणों में एक अक्षर कम है, जैसे—३१४११, ८१३११। कई चरणों में दो अक्षर कम हैं, जैसे—५१११२१। अनुष्टुप् छन्द के अनियन्त्रित इस सूत्र में जाति, त्रिष्टुप्, जगती, वैतालिक, मधुमति, कामदा आदि छन्दों का प्रयोग भी हुआ है।^१

१—विशेष विवरण के लिए देखो :

The Daśavaikālīka Sūtra : A Study, pp. 20-27 and pp. 101-106

८—उपमा और दृष्टान्त

जेन-आगम उपमाओं और दृष्टान्तों से भरे पड़े हैं। व्यास्था-प्रन्थों में भी ये व्यवहृत हुए हैं। देश, काल, क्षेत्र, सम्पत्ति और संस्कृति के अनुरूप अनेक उपमाएं और दृष्टान्त प्रचलित होते हैं। इनके व्यवहार से कथा-वस्तु में प्राण आ जाते हैं और वह सहजतया हृदयंगम हो जाती है।

इस सूत्र में अनेक उपमाएं और दृष्टान्त हैं। वे अनेक तथ्यों पर प्रकाश डालते हैं। उनका समग्र संकलन इस प्रकार है—

१—विहंगमा व पुण्येन्	११३
२—पुण्येन् भभरा जहा	११४
३—महुकारसमा	११५
४—मा कुले गंधणा होमो	२१८
५—बायाददो व्व हडो	२१६
६—अंकुरेण जहा नागो	२१०
७—महु-घर्यं व	५।१।६७
८—निच्छुचिग्मो जहा तेणो	५।२।३६
९—उउप्सन्ने विमले व चंदिमा	६।६८
१०—कुम्मो व्व अल्लीणपलीणगुत्तो	८।४०
११—भवखरं पिष्व	८।४४
१२—विसं तालउडं जहा	८।५६
१३—सूरे व सेणाए समतमाउहे	८।६१
१४—रूपमर्लं व जोडणा	८।६२
१५—कसिणभपुडावगमे व चंदिमा	८।६३
१६—फलं व कीयम्स वहाय होड	८।१।१
१७—सिहिरिव भास कुञ्जा	८।१।३
१८—जो पावरं जलियमवक्कमेज्जा आसीविसं वा वि हु कोवएज्जा । जो वा विसं खायइ जीवियट्टी एसोवमासायण्या गुरुणं ॥	८।१।६
१९—जो पवर्यं सिरसा भेत्तमिज्ज्ये सुत्तं व सीहं पडिबोहएज्जा । जो वा दए सत्तिअग्नो पहारं एसोवमासायण्या गुरुणं ॥	८।१।८

२०—कट्ठ सोयगयं जहा	६१२।३
२१—जलसित्ता इव पायवा	६१२।१२
२२—अग्निमिवा हियमी	६१३।१
२३—जसेण कल्नं व लिवेसर्वति	६१३।१३
२४—हयरस्सि-गांधकृत्-पोयपदागाभूयाइ	चू० ११३०।१
२५—इदो वा पडिओ छमं	चू० १।१२
२६—देवया व चुया ठाणा	चू० १।१३
२७—राया व रज्जपबभट्टो	चू० १।१४
२८—सेट्टि व्व कबडे छूडो	चू० १।१५
२९—मच्छो व्व गले गिलिता	चू० १।१६
३०—हत्ती व बंधणे बद्दो	चू० १।१७
३१—पंकोसनो जहा नागो	चू० १।१८
३२—दाकुदियं घोरविसं व नागं	चू० १।१२
३३—उवेतवाया व मुर्दसणं गिरि	चू० १।१७
३४—आइनओ लिप्पिक खलीणं	चू० २।१४
३५—जहा दुम्म्य पुकेनु भमरो आवियइ रसं । न य पुकं किलामेइ सो य पीणेह अप्पयं ॥	१।२।३
३६—जहा कुकुडपोयस्स निच्चं कुललओ भयं । एवं खु बंभारिस्स इत्यीविमाहबो भयं ॥	६।५।३
३७—जे यावि नागं डहरं ति नच्चा आसायए से अहियाय होइ । एवायरियं पि हु हीलयंतो नियच्छ्रद्ध जाइपहं खु भंदे ॥	६।१।४
३८—जहा हियमी जलणं नयमे नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं । एवायरियं उवचिट्टाज्जा अणंतनाणेवगबो वि संतो ॥	६।१।११
३९—जहा निसंते तवणच्चिमाली पभासर्ह केवलभारहं तु । एवायरिओ मुयसीलबुद्धिए विशायई मुरमज्जे व इंदो ॥	६।१।१४
४०—जहा ससी कोमुझोगजुत्तो नक्खततारागणप रियुडण्णा । खे सोहुई विमले अछभमुक्के एवं गणी सोहुइ भिक्खुमज्जे ॥	६।१।१५

- ४१—मूलाओ लंघण्यभवो दुमस्स लंघाओ पञ्चा समुद्रेति साहा ।
साहप्पसाहा विरहंति पता तबो से पुर्णं च फलं रसो य ॥
एवं धमस्स विणओ मूळं परमो से भोक्त्वो । ६।२।१,२
- ४२—दुग्गओ वा पबोएण चोडओ वहई रहे ।
एवं दुबुढि किञ्चाण वुतो वुतो पकुञ्जई ॥ ६।२।१६

६—परिभाषाएँ

इस शीर्षक के अन्तर्गत मूल आगम में प्रतिपादित परिभाषाओं को एकत्रित किया गया है। कई परिभाषाएँ स्वष्ट हैं और कई अस्पष्ट। वे अस्पष्ट परिभाषाएँ भी विषय की भावना को वहन करती हैं, अत इन्हें छोड़ा नहीं जा सकता। दशवेकालिक में आई हुई परिभाषाएँ ये हैं

(१) अत्यागी—

बद्धतत्त्वमलंकारं इत्थीतो सप्तणाणि य ।

अच्छम्भवा जे न भूजन्ति न से चाइ ति बुच्छइ ॥ २१२

(२) त्यागी—

जे य कन्ते पिए भोए लदे विपिटिकुञ्ज्वहि ।

साहिणे चयह भोए से हु चाइ ति बुच्छइ ॥ २१३

(३) त्रम—

जेसि केसिचि पाणाणं अभिकर्तं पडिकर्तं संकुचियं

पसारियं हयं भंतं तसियं पलाइयं आगहगद्विजाया । ४।८०९

(४) समुदान—

समुयाणं चरे निकल् कुलं उच्चावयं सप्ता ।

नीयं कुलमद्वक्षम्भ ऊसां नानिधारए ॥ ५।२१२५

(५) अहिंसा—

अहिंसा निउणं बिठा सब्बमूएसु संजमो ॥ ६।१८

(६) यही—

जे सिया सन्निहीकामे गिही पञ्चहए न से ॥ ६।१९

(७) परिघह—

मुच्छा परिघाहो बुत्तो । ६।२०

(८) संसार और मोक्ष—

अगुसोओ संसारो पडिसोओ तस्त उत्तारो ॥ चूलिका २।३

(९) विहारचर्चर्या—

अणिएयवासो समुयाणवरिया अन्नायउंडं पइरिक्कया य ।

अप्पोबही कलहविवज्ज्ञाय विहारचर्चर्या इसिं पसत्था ॥ चूलिका २।५

(१०) प्रतिबुद्धजीवी—

जस्तेरिसा जोग जिईदियस्त शिइमओ सप्तुरिस्तस निल्दं ।

तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी सो जीबहु संजमजीविएं ॥ चूलिका २।१५

१०-चूलिका

चूलिका का अर्थ शिवा या चोटी है। छोटी चूला (चूड़ा) को चूलिका कहा जाता है।^१ यह इसका सामान्य शब्दार्थ है। माहित्य के क्षेत्र में इसका अर्थ मूल शास्त्र का उत्तर-भाग होता है। उमिलिंग चूलिका द्वय को 'दशवैकालिक' का 'उत्तर-नंत्र' कहा गया है।^२ तत्र, मूल और ग्रन्थ ये एकार्थक शब्द हैं।^३ आजकल सम्पादन में जो स्वान वरिशिष्ट का है, वही स्थान पार्वीन काल में चूलिका का रहा है। मूल मूल में अवणिन अर्थ का और वर्णित अर्थ का : दीकरण करना इसकी रचना का प्रयोजन है।^४ अगस्त्य-सिंह ने इसकी व्याख्या में ही उक्त और अनन्त दोनों प्रकार के अर्थों का संग्राहक लिखा है।^५ दीकरण का प्रयोग है—शास्त्र में उक्त और अनन्त अर्थ का संक्षेप।^६ शीलाङ्क मूरि चूलिका को अग्र वतन्नाने है।^७ अग्र का अर्थ वही है जो 'उत्तर'

१-अगस्त्य चूर्ण :

अप्याचूला चूलिया ।

२-(क) अगस्त्य चूर्ण :

तं पुण चूलिका दुनं उत्तरं तंतं जथा आयारस्स पंचचूला उत्तरमिति जं उवरिस्तथस्त ।

(क) जिनदास चूर्ण, पृष्ठ ३४९ :

तं पुण चूलिपदुर्गं उत्तरं तंतं नायधं, जहा आयारस्स उत्तरं तंतं पंच चूलाओ, एवं दसवैयालियस्स दोणि चूलाओ उत्तरं तंतं भवद ।

३-जिनदास चूर्ण, पृष्ठ ३४९ :

तंतंति वा सुतो ति वा गंयो ति वा एगट्टा ।

४-दशवैकालिक निर्युक्ति, शास्त्रा ३५९ :

तं पुण उत्तरतंतं सुभगहित्यं तु संगहणी ॥

५-अगस्त्य चूर्ण :

जं अवणितोव संगहृथं सुतगहित्यं—सुते जे गहिता अत्या तेसि कस्ति पुडीकरणयं संगहणी ।

६-हारिनदीय दीका, पत्र २६९ :

संगहणी तदुक्तानुकार्यसंक्षेप ।

७-आचारारंग २।१ वृत्ति, पत्र २८९ :

अनमिहितार्थामिथानाय संक्षेपोत्तस्य च प्रपञ्चाय तदप्रमूतास्ततलश्चूडा उक्तानुकार्यसंप्राहिकाः प्रतिपाद्यन्ते ।

का है। आचारांग की व्याख्या में दशवैकालिक की और दशवैकालिक की व्याख्या में आचारांग की चूलिका का उल्लेख हुआ है।^१

आगमों से सम्बन्ध रखने वाली चूलिकाएँ और संग्रहणी ग्रन्थ अनेक हैं। मूल आगम और संग्रहणी व चूलिका के कर्त्ता एक नहीं रहे हैं। संग्रहणी व चूलिका बहुधा भिन्न-भिन्न कार्यक प्रतीत होती हैं फिर भी मूल शास्त्र की जानकारी के लिए अत्यन्त उपयोगी होने के कारण उनको आगम के अंग रूप में स्वीकार किया गया है।

परिचाट-पर्व के अनमार नन्द-माओज्य के प्रधान मंत्री शकडाल के द्वितीय पुत्र श्रीयक जेन मुनि बने। सम्भवस्मरी पर्व आया। उस दिन उपवास करना जेन मुनि के लिए अनिवार्य है। वे उपवास करने में असमर्थ थे। उनकी बहिन यशिणी, जो साधी थी, को इसका पता चला। वह भाई के पास आई तो रघु-त्यो-त्यो प्रयत्न कर उनमें उपवास करवाया। श्रीयक उग्राहम में चल बसे। बहिन के मन में सन्देह हो गया कि वह मुनि-प्राप्तिका है। आचार्य ने कहा—“नुम धानिका नहीं हो। तुमने समझाया था, किन्तु बल-प्रयोग नहीं किया था।” फिर भी मन्देह नहीं मिटा। उस समय शासन-देवी उसे महा-विदेह क्षेत्र में सीमंधर न्वामी के पास ले गई। सीमंधर न्वामी ने उसे निर्दोष बताया। केवली के मुख से अपने को निर्दोष मुन वह नि शंक हो गई। वहाँ से लौटने समय भगवान् सीमंधर ने उसे चार अध्ययन दिए। वह बापस अपने क्षेत्र में आई। श्रीसंघ ने उनमें से पिछले दो अध्ययन दशवैकालिक के साथ जोड़ दिए।^२ निर्युक्ति की एक गाथा में इसका उल्लेख मिलता है।^३ चूलिकार इसके बारे में भीत है। दीकाकार ने दूसरी

१-(क) आचारांग २।१ दृष्टि, पत्र २८९ :

यथा दशवैकालिकस्य चूडे ।

(ख) हारिमद्वीय दीका, पत्र २६९ :

आचारापचूलिकावत् ।

२-परिचाट-पर्व, १९।८३-१०० ।

३-दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ४४७ :

आओ दो चूलियाओ आशीया अक्षिणीए अन्नाए ।

सीमंधरकालाओ नक्षियामविदोहस्तुए ॥

चूलिका के पहले इलोक की व्याख्या में उक्त घटना का संकेत किया है।^१ किन्तु उन्होंने निर्युक्ति की उक्त गाथा का अनुसरण नहीं किया। इससे इस गाथा की मौलिकता संदिग्ध हो जाती है।

१—हारिमद्रीय टीका, पत्र २७८-२७९ :

एवं च वृद्धवादः—कथाचिद्बार्यपात्रसहिणः कुरगुडुक प्रायः संयतस्वातुमासि-
कादाकुपवासं कारितः, स तदाराथनया मृत एव, ऋषिधातिकाऽहमित्युद्दिना
सा तीर्थकरं पृथ्छासीति गुणावर्जितवेवतया नीता श्रीसीमन्वरस्वामिसीरीयं,
पृष्ठो मगवान्, भवुष्टचिन्नाऽधातिकेत्यमिधाय भगवतेमां चूडा प्राहितेति ।

११-दशवैकालिक और आचारांग-चूलिका

जिस प्रकार दशवैकालिक के अन्त में दो चूलिकाएँ हैं, उसी प्रकार आचारांग के साथ पाँच चूलिकाएँ जुड़ी हुई हैं।^१ चार चूलिकाओं का एक स्फट्ट है। यही आचारांग का द्वितीय श्रुत-स्फट्ट कहलाता है। पाँचवीं चूलिका का नाम 'निशीथ' है।^२ निर्युक्तिकार के अनुमार प्रथम चार चूलिकाएँ आचारांग के अध्ययनों से उद्भृत की गई हैं और 'निशीथ' प्रत्यास्थान-पूर्व की त्रुटीय बस्तु के आचार नामक बीसवें प्राभृत में उद्भृत की गयी है।^३

दशवैकालिक और आचारांग-चूलिका में विषय और शब्दों का बहुत ही साम्य है। मंभव है इनका उद्धरण किसी एक ही शास्त्र में हुआ हो। दशवैकालिक निर्युक्ति के अनुमार धर्म-प्रज्ञति (चतुर्थ अध्ययन) आत्म-प्रवाद (सातवें) पूर्व से, पिण्डेषणा (पाँचवें अध्ययन) कर्म-प्रवाद (आठवें) पूर्व से, वाक्यशुद्धि (सातवें अध्ययन)

१-आचारांग निर्युक्ति, गाथा ११ :

अवलंभेत्रमहो अद्वारसप्यसहस्रितिओ बेऽओ ।

हवह य संपर्चचूलो बहुबहुतरओ पर्यगेण ॥

२-बही, गाथा ३४७ :

आयारस्त मगवओ चउत्पचूलाइ एस निज्जुस्ति ।

पंचम चूलनिसीहं तस्य य उवर्ति भणीहामि ॥

३-बही, गाथा २८८-२९१ :

बिहास्त य पंचमए अद्वगतस्त बिहास्ति उहेसे ।

भणिओ पिष्ठो तिज्जा बत्त्वं पाउगाहो चेव ॥

पंचमगत्स चउत्प्ये इरिया बणिज्जई समासेण ।

छहुत्स य पंचमए भासजायं बियाणाहि ॥

सत्सिङ्गगाणि सत्सि निज्जूडाइं महापरिन्माओ ।

सत्सपरिन्द्रा भावल निज्जूडाओ चुम्बिनुसी ॥

आयारपक्ष्यो पुण पक्षपत्ताश्तस्त तद्यवत्यूमो ।

आयारनामकिज्ञा बीसइमा पाहुडच्छेया ॥

सत्य-प्रवाद (छठे) पूर्व से और शेष मब अध्ययन प्रत्याख्यान (नवे) पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्भृत किए गए हैं।^१

इस प्रकार निर्युक्तिकार के अभिभव से दशवैकालिक के तीन अध्ययनों को छोड़ शेष सभी अध्ययनों और निशीथ का निर्यूल्ण नवे पूर्व की तीसरी वस्तु से हुआ है। दशवैकालिक में आचार का निरूपण है और निशीथ में आचार-भंग की पायशित-विधि है। दोनों का विषय आपस में गुप्त हुआ है।

पिण्डविषया और भाषाजात का ममावेद आचारांग की पहली चूला में होता है।^२ आचारांग के दूसरे अन्यथन (न्योक-विज्ञा) के पाँचवें उद्देशक और आठवें (विमोह)

१—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १६, १७ :

(क) आयप्पवायपुव्वा निज्जूदा होइ घम्मपन्नती ।

कम्मप्पवायपुव्वा पिष्टस्त उ एसणा तिविहा ॥

सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूदा होइ वक्कसुद्धी उ ।

अवसेसा निज्जूदा नवमस्त उ तद्यवत्वौओ ॥

(ख) अगस्त्य चुर्णि :

आयप्पवाय पुव्वा गाहा । सच्चप्पवात् । वितिओ विय आदेसो ।

आयप्पवाय पुव्वातो घम्मपन्नती निज्जूदा, सा त्रुण छ जीविणिया ।

कम्मप्पवायपुव्वाओ पिष्टेसणा । आह चोदणो कम्मप्पवायपुव्वे कम्मे

वणिज्जमाणे को अवसरो पिष्टेसणाए ? गुरवो आणवेति असुद्ध पिष्ट-

परिमोगो कारणं कम्मदंधस्त, एस अवकासो । मणियं च पण्डतीए—

“आहाकम्मं णं भते ! मुंजमाणे कलिकम्म” (मग १९७९) तुलालावओ

विमासितव्वो ॥ ५ ॥ सच्चप्पवायाओ वक्कसुद्धी । अवसेसा अम्भयणा

पच्चवक्षाणास्त ततियवत्वूता ।

२—आचारांग निर्युक्ति, गाथा ११, चृति :

तत्र प्रथमा—“पिष्टेसण सेल्लिरिया, नासज्जाया य वत्पवाएसा ।”

उग्गहृपडिमति सहाध्यमात्मिका, हितीया सत्सतिकाया, तृतीया नाबना,
चतुर्थी विमुक्तिः, पंचमी निशीथाध्यमनम् ।

अध्ययन के दूसरे उद्देशक से पिण्डेयणा अध्ययन उद्भृत किया गया है। छठे (धूत) अध्ययन के पाँचवें उद्देशक से भाषा-जात का निर्यूहण किया गया है।^१

दशवकालिक के पिण्डेयणा (पाँचवे अध्ययन) और वाक्यशुद्धि (सातवें अध्ययन) में तथा आचारांग-चूला के पिण्डेयणा (प्रथम अध्ययन) और भाषाजात (चौथे अध्ययन) में शास्त्रिक और आर्थिक—दोनों प्रकार की पर्याप्ति समता है। उसे देखकर सहज ही यह कल्पना हो सकती है कि इनका मूल स्रोत कोई एक है। इन दोनों आगमों की निर्युक्तियों के कर्ता एक ही व्यक्ति है।^२ उनके अनुसार इनके मूल स्रोत भिन्न हैं। आचारांग-चूला के अध्ययनों का स्रोत आचारांग और दशवकालिक के अध्ययनों का स्रोत पूर्व है। किन्तु निर्युक्तिकार ने दशवकालिक के निर्यूहण के बारे में जो संकेत किया है, वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। यदि उम दूसरे विकल्प को स्वीकार किया जाय तो दशवकालिक के इन दो अध्ययनों का स्रोत वही ही हो सकता है, जो आचारांग-चूला के पिण्डेयणा और भाषाजात का है। पूर्व अभी उपलब्ध नहीं है, इसलिए निर्यूहण के पहले पक्ष के बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता है। दूसरे पक्ष की हाइ से परामर्श किया जाय तो दशवकालिक का अधिकाक्ष भाग उपलब्ध अंगों व अन्य आगमों में प्राप्त हो सकता है। कुछ आधुनिक विद्वानों ने आचारांग-चूला के पिण्डेयणा और भाषाजात

१-आचारांग निर्युक्ति, गाया २८८-२८९ :

विद्यमस्त य पञ्चमे अट्टुमगस्त विह्वयनि उद्देशे ।

सणिष्ठो पिण्डो ॥

... ॥

अट्टुमस्त य पञ्चमे भासज्जायं विद्याणाहि ॥

(विशेष जानकारी के लिए इन गायाओं की वृत्ति देखें ।)

२-आवश्यक निर्युक्ति, गाया ८४-८५ :

आवश्यकस्त दसकालियस्त तह उत्तरज्ञमायारे ।

सूयगडे निज्जुति बोच्छामि तहा दसाणं च ॥

कप्पस्त य निज्जुति बबहारस्तेव परमनिदणस्त ।

सूरिभवणसीए बोच्छं इसिमासिमाणं च ॥

एएति निज्जुति बोच्छामि वहं जिन्नोष्टेसेण ।

आहरण-हेतु- कारण- पर-निवहमिन् समासेण ॥

की रचना का आधार दशवेकालिक को माना है और कुछ विद्वान् दशवेकालिक के पिण्डेषणा और वाक्यशुद्धि की रचना का आधार आचारांग-चूला को मानते हैं।^१

किन्तु निर्युक्तिकार के मत से दोनों आवृत्तिक मान्यताएँ ब्रुटि-पूर्ण हैं। उनके अनुसार आचार-चूला आचारांग के अर्थ का विस्तार है। विस्तार करने वाले आचार्य का नाम सम्भवत उनको भी जात नहीं था। इसीलिए उन्होंने आचारांग-चूला को म्यविर-कर्तृक बताया है।^२ दशवेकालिक के निर्युक्त आचार्य शब्दम्भव भी चतुर्दश-पूर्वी थे और आचारांग-चूला के कर्ता भी चतुर्दशपूर्वी थे।^३

भगवान् महावीर के उत्तरवर्ती आचार्यों में प्रभव, शब्दम्भव, यशोभद, सम्भूत-विजय, भद्रवाहु और स्थूलभद्र—ये छ आचार्य चतुर्दशपूर्वी हैं। इनमें आगमकर्ता के स्वयं में शब्दम्भव और भद्रवाहु—ये दो ही आचार्य विश्रुत हैं। शब्दम्भव दशवेकालिक के और भद्रवाहु छोट-मूर्त्रों के कर्ता माने जाते हैं। निशीथ आचारांग की पाँच चूलाओं में से एक है। इसलिए पाँचों चूलाओं का कर्ता एक ही होना चाहिए। चार चूलाओं को एक क्रम में पढ़ा जा सकता है। निशीथ को परिपक्व बुद्धि वाले को ही पढ़ने का अधिकार है।^४ इसलिए सम्भव है कि प्रथम चार चूलाओं की एक श्रूत-स्कन्ध के रूप में और निशीथ की स्वतंत्र आगम के रूप में योजना की गई।

१—देखिये—एनेल्स ऑफ नाइडारकर ओरिएस्टल रिसर्च इन्स्टीच्युट, जिल्ड १७, १९३६ में प्रकाशित डॉ० ए० एम० घाटों का “ए प्यु पैरेलस्ट इन जैन एण्ड बुद्धिस्ट बर्स” शीर्षक लेख।

२—आचारांग निर्युक्ति, गाथा २८७ :

थेरेहिण्युगाहु द्वीपहिङ्म होउ पागडत्यं च ।

आयारो अत्थो आयारोमु पविभस्तो ॥

३—वही गाथा, २८७ वृत्ति :

‘स्वविरैः’ भुतकृद्दैस्तर्तुशपूर्वविद्धि निर्यूढानीति ।

४—निशीथ-माय्य चूर्णि, प्रथम विमाग, पीठिका, पृष्ठ ३ :

आइलाओ चत्तारिचूलाओ कमेणेव अहिञ्जन्ति, पंचमी चूला आयारपक्षो ति-वास-परियागस्त आरेण च विज्ञति, ति-वास-परियागस्त च अपरिज्ञामगस्त अतिपरिज्ञामगस्त वा न विज्ञति आयारपक्षो पुण परिज्ञामगस्त विज्ञति ।

पंचकल्प भाष्य और चूला के अनुसार निशीथ के कर्ता चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु है।^१ इसलिए आचाराङ्ग (चार चूलाओं) के कर्ता भी वे ही होने चाहिए। यदि हमारा यह अनुमान ठीक है तो आचाराङ्ग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध दशवैकालिक के बाद की रचना है। आचार्य भद्रबाहु ने, निर्गुणिकार के अनुसार, आचाराङ्ग के आधार पर प्रथम चार चूलाओं की रचना की है। किन्तु प्रथम चूला के दो अध्ययनों (पिण्डेषणा और भाषावाजात) की रचना में दशवैकालिक का अनुसरण किया है अथवा यों भी माना जा सकता है कि शेनों आचार्यों ने एक ही स्थान (नवे पूर्व के आचार प्राभृत) से इन अध्ययनों का विषय चुना, उम्लिंग, इनमें इनना जाग्रिक और आर्थिक सामय है। इस कल्पना के द्विग्रन्थ आधार भी है। दोनों जागमों के इन अध्ययनों में विषय का निर्वाचन न्यायाधिक मात्रा में होता है। आचाराङ्ग की पिण्डेषणा में 'संख्यांड' का एक लम्बा प्रकरण है किन्तु दशवैकालिक वर्ण पिण्डेषणा में उसका उल्लेख तक नहीं है। इसी प्रकार वाचवैष्णदि अध्ययन में भी बहुत अन्तर है।

दोनों जागमों में प्राप्त अन्तर का अध्ययन करने के बाद भी आचाराङ्ग की प्रथम चूला के प्रथम पिण्डेषणा और भाषावाजात के निर्माण में दशवैकालिक का योग है—इस अभिमत को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

दशवैकालिक की रचना आचाराङ्ग-चूला से पहले हो चुकी थी, इसका पुष्ट जाधार प्राप्त होना है। प्राचीन काल में आचाराङ्ग (प्रथम श्रुतस्कन्ध) पढ़ने के बाद उत्तराध्ययन पढ़ा जाता था, किन्तु दशवैकालिक की रचना के पश्चात् वह दशवैकालिक के बाद पढ़ा जाने लगा।

प्राचीन काल में 'आमर्गंध' (आचाराङ्ग १।२।५) का अध्ययन कर मुनि पिण्डकल्पी (भिक्षाश्राही) होते थे। फिर वे दशवैकालिक के पिण्डेषणा के अध्ययन के पश्चात् पिण्डकल्पी होने लगे।

यदि आचाराङ्ग-चूला की रचना पहले हो गई होती तो दशवैकालिक को यह स्थान प्राप्त नहीं होता। इसमें यह प्रमाणित होता है कि आचाराङ्ग-चूला की रचना दशवैकालिक के बाद हुई है।

१-(क) पंचकल्प भाष्य, गाथा २३ :

आयार दसा कप्यो, ववहारो णवम पुष्टजीसंदो ।

चारित रखण्डा, सूयकउसुवर्ति ठवियाँ ॥

(क) पंचकल्प चूर्णि :

तेण भगवता आयारपक्ष्य दसाक्ष्य ववहारा य नवमपुष्ट नीसंदभूता निजूडा ।

दशवैकालिक और आचारांग-चूलिका के तुलना-स्थल :
शब्द और भाव-सम्बन्ध

दशवैकालिक	आचारांग-चूलिका
एगंतमवक्तमिता ,एगंतमवक्तमेत्ता । तबो संजयामेव
अचितं पडिलेहिया ।	परिहुवेज्ञा ।
जयं परिटुवेज्ञा.	(२१११४)
.....॥	
	(४११८?)
तहणियं व छिवाडि,तहणियं वा छिवाडि अणभिकंत-
आमियं भजियं सदं ।	भजियं पेहाए, अफामुयं अणेसणिज्जंति
देतियं पडियाइक्खे,	मण्णमाणे लामे सते णो पडिगाहेज्ञा ।
न मे कप्पइ तारिसं ॥	(२१११५)
	(४२०२०)
असणं पाणगं वा वि,	जं पुण जाणिज्ञा, असणं वा (४)
खाइम साइमं तहा ।	बहवे । । । समणमाहणउनिहिकिवणवणीमए
जं जाणेज्ज मुणेज्जा वा,	पणियं पणियं समुद्रिस्य पाणाईं वा (४)
दाणट्ठा पगडं इमं ॥	जाव समारब्द आसेवियं वा अफामुयं
पुणट्ठा "	अणेमणिज्जंति मण्णमाणे लामे सते जाव
वणिमट्ठा "	णो पडिगाहिज्ञा ।
गमणट्ठा पगडं इम ॥	(२११११५)
तं भवे भन्नपाणं तु,	
यंजयाण अकप्पियं ।	
देतियं पडियाइक्खे,	
न मे कप्पइ तारिस ॥	
(४११४७,४६,५१,५३,५४)	

१. बहिरङ्ग परिचय : दशवंकालिक और आचारांग-चूलिका

५६

उद्देसिय	कीयगड,	आहाकमियं वा, उद्देसियं वा, मीसजायं
पूर्विकम्मं च	आहुङ् ।	वा, कीयगडं वा, पामिच्चं वा, अच्छेऽजं वा,
अज्ञानोयग	पामिच्चं,	अणिसटुं वा, अभिहुङ् वा, आहटुं दिज्ज-
मीसजाय	वज्जए ॥	माणं भुजेज्जा... अभिसंधारिज्जा

(५।१।५५)

(२।१।२।२७)

न चरेज्ज वासे	वासते,	तिव्वदेसियं वासं वासमाणं पेहाए... णो...पविसिज्ज वा णिक्खमिज्ज वा
महियाए	पडतीए ।	गामाणुगामं दृष्टज्ञेज्जा ।
महावाए	वायते,	
तिर्त्तिर्त्तसंपाइमेमु	वा ॥	(२।१।३।३८)

(५।१।८)

आवाय	विसमं	खाण्,	ओवाओ वा, खाण् वा, कंटए वा,
विजल		परिवज्जए ।	घसी वा, भिलूगा वा, विसमे वा, विजले... णो उज्जुयं गच्छेज्जा ।
सकमेण	न	गच्छेज्जा,	
विजमाणे		परवकमे ॥	(३।१।५।५१)

(५।१।४)

साणोपावारपिहियं	,	गाहावहकुलस्स दुवारवाहं कंटक-
अप्पणा	नावपगुरे ।	बोदियाए परिपिहियं पेहाए तैसि पुव्वामेव
कवाड नो	पणोल्लेज्जा,	उमाहं अणणुलविय अपडिलेहिय अपमज्जिय
ओगगहंसि	अजाइया ॥	णो अवंगुणिज्ज वा, पविसिज्ज वा, णिक्ख- मिज्ज वा ।

(५।१।१८)

(२।१।५।५२)

समणं माहणं वा वि,
किविणं वा वणीमणं ।
उवसकमंत भर्तटा,
पाणटाए व सजए ॥
(५।२।१०)

तं अडक्कमितु न गविसे,
न चिट्ठे चक्कु-गांयरे ।
एगंतमवक्कमिता ,
तत्य चिट्ठेज्ज सजए ॥
(५।२।११)

पडिंहिंग व दिन्ने वा,
तओ तम्मि नियन्ति ।
उवसकमेज्ज भर्तटा,
पाणटाए व मजए ॥
(५।२।१२)

अगल फलिह दार,
क्वाड वा वि मजए ।
अबलविया न चिट्ठेज्जा,
गोयरगगओ मणी ॥
(५।२।१३)

तत्येव पडिलेज्जा,
भूमिभाग वियक्कणो ।
सिणाणस्स य वज्जस्स,
संलोग परिज्जाग ॥
(५।२।१४)

आलोयं थिगलं दार,
संघ दगभवणाणि य ।
चरंतो न विणिझक्काए,
संकटुण विवज्जए ॥
(५।२।१५)

समणं वा, माहणं वा, गामपिडोलगं
वा, अतिहि वा, पुब्बपविट्ठे वेहाए णो ते
उवाडक्कम पविसेज्ज वा ओभासेज्ज वा से
नमायाय एगंतमवक्कमेज्जा अणावावमर्लोए
चिट्ठेज्जा, अह पुण एवं जागेज्जा—

पडिसेहिए वा दिल्ले वा तओ तंमि
लियन्ति । मंजगासेव पविसेज्ज वा ओभा-
मेज्ज वा ।

(२।१।५।५८)

नो गाहावडकुलस्स दुवारसाह अब-
लंविय ॥ चिट्ठेज्जा णो गाहा-
वडकुलस्स मिणाणस्स वा वच्चस्स वा मंलोग
मार्डिवार चिट्ठेज्जा णो गाहावडकुलस्स
आलोय वा यिगलं वा मंधि वा दगभवण
वा वाहाउ परिगिभ्य ।

(२।१।६।५६)

पुरेकम्मेण	हत्येण,
दब्बीए	भायणेण वा ।
देनियं	पडियाइक्खे,
न मे कप्पइ	तारिसं ॥
	(५।१।३२)
(एव) उदओल्ले	ससिणिदे,
ससरक्खे	मट्टिया ऊसे ।
हरियाले	हिगुलए,
मणोसिना	अंजणे लोणे ॥
	(५।१।३३)
गेह्य	वणिण्य सेडिय,
सोरट्टिय	पिटु कुक्कुस काय ।
उक्कट्टमसंसट्टे	,
संसट्टे	चेव बोधब्बे ॥
	(५।१।३४)

तहप्पगारेण पुरेकम्मकएण हत्येण वा
 (४) असणं वा (४) अफासुयं अणेसणिज्जा
 जाव णो पडिगाहेज्जा, अह पुण एवं
 जाणेज्जा णो उदउल्लेण...एवं
 ससरक्खे, मट्टिया, ऊसे, हरियाले, हिगुलए,
 मणोसिना, अंजणे, लोणे, गेह्य, बलिय,
 सेडिय, सोरट्टिय, पिटु, कुक्कुस, उक्कुट
 संसट्टे ।

(२।१।६।६३)

असंसट्टेण	हत्येण,
दब्बीए	भायणेण वा ।
दिज्जमाणं	न इच्छेज्जा,
एक्कद्वाकम्म	जहि भवे ॥
	(५।१।३५)
संसट्टेण	हत्येण,
दब्बीए	भायणेण वा ।
दिज्जमाणं	पडिच्छेज्जा,
जं तत्थेसणियं	भवे ॥
	(५।१।३६)

अह पुण एवं जाणेज्जा, णो असंसट्टे,
 संसट्टे । नहाप्पगारेण संसट्टेण हत्येण वा
 (४) असणं वा (४) फासुयं जाव
 पडिगाहेज्जा ।

(२।१।६।६४)

निस्सेण	फलगं	पीढं,
उत्सवित्ताणमारुहे		।
मचं कीलं च	पासायं,	
समणट्टाए व	दावए ॥	(५।१।६७)
दुरुहमाणी	पवडेज्जा,	
हृत्यं पायं व	लूसाए ।	
पुढविजीवे	हिसेज्जा,	
जे य नन्निस्त्या	जगा ॥	(५।१।६८)
एयान्से	महादोसे,	
जाणिऊण	महेसिणो ।	
तम्हा मालोहुड	भिक्खु,	
न पडिगेण्हंति	सज्या ॥	(५।१।६९)

दगवारएण		पिहियं,
नीसाए	पीढएण	वा ।
लोढेण	वा वि	लेवेण,
सिलेपेण	व	केणई ॥
तं च	उबिमदिया	देज्जा,
समणट्टाए	व	दावए ।
देंतियं		पडियाइक्खे,
न मे	कण्ड	तारिसं ॥

(५।१।४५,४६)

से भिक्खु वा (२) जाव समाणे से जं
पुण जाणेज्जा अमणं वा (४) खंबंसि वा,
घंबंसि वा, मंचंसि वा, मालंसि वा, पासा-
यंसि वा, हिम्मियतलंसि वा, अल्यर्मि वा,
तहपगारसि अल्लिक्षत्तजायंसि उवणिक्षत्ते
मिया, तहपगारं मालोहुडं असणं वा (४)
अफामुयं जाव णो पडिगाहेज्जा ।

केवली व्या “आयाणमेय”— असंजाए
भिक्खुपडियाए पीढं वा, फलगं वा, णिमेणि
वा, उद्गुलं वा, अवहट्टु उम्मिय आरुहेज्जा,
से तेत्य दुरुहमाणे, पयलेज्जा वा पवडेज्जा वा,
से तत्य पयलमाणे वा पवडमाणे वा, हृत्यं
वा, पायं वा, ब्राह्म वा, ऊँ वा, उदरं वा,
सीसं वा, अणयं वा कायंसि इन्दियजायं
लूसिज्ज वा, पाणाणि वा, भूपाणि वा,
जीवाणि वा, सनाणि वा, अभिहणिज्ज वा,
वत्तेज्ज वा, लेसिज्ज वा, संधेज्ज वा,
संघट्टेज्ज वा, परियावेज्ज वा, किलामेज्ज
वा, ठाणओ ठाणं संकामेज्ज वा, तं तहपगारं
मालोहुडं असणं वा (४) लाभे संते णो
पडिगाहेज्जा ।

(२।१।७।७१,७२)

.....मट्टियाओलिनं तहपगारं असणं वा
(४) जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा
... उविभदमाणे...णो पडिगाहेज्जा... ।

(२।१।७।७४,७५)

असण पाणगं वा वि,
खाइमं साइमं तहा ।
उद्गम्मि होज्ज निक्षित्तं,
उत्तिगपगेमु वा ॥
(५।१।५६)

त भवे भत्तपाणं तु,
सजयाण अक्षिप्यं ।
देनियं पडियाइक्षे,
न मे कण्ठ तारिस ॥
(५।१।६०)

असण पाणगं वा वि,
खाइमं साइमं तहा ।
तेऽम्मि होज्ज निक्षित्तं,
तं च सधट्टिया दए ॥
(५।१।५१)

त भवे भत्तपाणं तु,
सजयाण अक्षिप्यं ।
देनियं पडियाइक्षे,
न मे कण्ठ तारिस ॥
(५।१।६२)

(एवं) उत्सक्षिया ओसक्षिया,
उज्जालिया पञ्जालिया निव्वाविया ।
उत्सचिया निस्सचिया,
ओवत्तिया ओयारिया दए ॥
(५।१।६३)

तहेवुरुच्चावयं पाण,
अदुवा वारधोयं ।
ससेइमं चाउलोदगं,
अहुणाधोयं विवज्जए ॥
(५।१।७५)

से जं पुण जाणिज्जा, असणं वा (४) बाउ-
कायपइट्टियं चेव एव अगणिकायपइट्टियं
लाभे संते जो पडिगाहेज्जा, 'केवली बूया'-
"आयाणमेयं" अस्सज्जे भिक्खूपडियाए
अगणि ओसक्षिय २ णिस्सक्षिय २ ओह-
रिय २ आहट्टु, दलएज्जा । अह भिक्खूणं
पुष्पोविद्वा जाव जो पडिगाहेज्जा ।

(२।१।७।७७)

..... तंजहा उसेइमं वा, ससेइमं वा,
चाउलोदगं वा, अण्यवरं वा तहप्पगारं
पाणाजायं, अहुणाधोयं, अण्डिलं, अबोक्कलं,
अपरिणयं...जो पडिगाहेज्जा ।

(२।१।७।८१)

ज जाणेज चिराधोष,
मईए दंसणेण वा ।
पडिपुच्छकूण सोच्चा वा,
ज च निसंकिय भवे ॥
(५।१।७६)

.....अह पुण एवं जाणेजा, चिराधोषं,
अंबिलं, बुक्कंतं, परिणयं, विदूर्यं, कामुमं
जाव पडिगाहेज्जा ।

(२।१।७८३)

सालुय वा विगलिय,
कुमुदुप्लनालिय ।
मुणालिय सासवनालियं
उच्छ्रुतवड अविवुड ॥
(५।२।१८)

.....से ऊं पुण जाणेजा, सालुयं वा,
विगलियं, सासवनालियं वा, अणतरं वा
तहापागारं आमगं, अमत्यपरिणयं, अकामुयं
जाव जो पडिगाहेज्जा ।

(२।१।८८)

तरुणग वा पवाल,
स्क्रवस्स तणगस्स वा ।
अन्नस्स वा वि हरियस्स,
आमग परिवज्जाए ॥
(५।२।१९)

.....सिगवेर वा सिगवेरचुनं वा अणतरं
वा तहापागारं आमगं अमत्यपरिणयं अकामुयं
जाव जो पडिगाहेज्जा ।

(२।१।८।८६)

.....सिगवेर वा सिगवेरचुनं वा अणतरं
वा तहापागारं आमगं अमत्यपरिणयं अकामुयं
जाव जो पडिगाहेज्जा ।

उप्पल पउमं वा वि,
कुमुय वा मगदंतिय ।
अन्नं वा पुण्फ सच्चिन्त,
त च सलुचिया दण ॥
(५।२।१४)

.....मे ऊं पुण जाणेजा, उप्पलं वा,
उप्पलं नालं वा, भिनं वा, भिसमुणालं वा,
पोक्खलं वा, पोक्खलविभिन्नं वा, अणतरं
वा तहापागारं जाव जो पडिगाहेज्जा ।

(२।१।८।८६)

त भवे भरतपाण तु,
सजयाण अकप्पियं ।
देतियं पडियाइक्कवे,
न मे कप्पह तारिसं ॥
(५।२।१५)

१. बहिरङ्ग परिचय : दशवैकालिक और आचारांग-चूलिका

६५

तहा कोलमणुस्सन्नं,
बेलुंय कासवनालियं।
तिलप्पडग नीमं,
आमग परिवज्जणे॥
(५।२।२१)

... से जं पुण जाणिज्ञा, अत्यियं वा,
कुभिपक्कं, तिदुर्गं वा,
बेलुंय वा, कासवनालियं वा,
अण्णतरं वा आमं असत्थपरिणयं जाव णो
पडिगाहेज्जा।

(२।१।८।१००)

तहेव चाउल पिट्ठं,
वियड वा तत्तनिव्वुं।
तिलपिट्ठ पड़ पिन्नाग.
आमग परिवज्जणे॥
(५।२।२२)

... से जं पुण जाणिज्ञा, कण वा कण-
कुडगं वा, कणपूयलियं वा, चाउलपिट्ठं वा,
चाउलपिट्ठ वा, तिलं वा, तिलपिट्ठं वा,
तिलप्पडगं वा, अन्तरं वा, तह्पगारं
आमं असत्थपरिणयं जाव लाभे संति णो
पडिगाहेज्जा।

(२।१।८।१०१)

तहेव कफ्लमथृणि,
बीयमथृणि जाणिया।
बिहेलग पियाल च,
आमग परिवज्जणे॥
(५।२।२४)

से जं पुण मथुजायं जाणिज्ञा, तजहा-
उवरमंथुं वा, णमोहरमंथु वा, पिलुक्खुमंथु
वा, आसोत्थमंथु वा अण्णयर वा तह्पगार
मंथुजाय आमयं दुरुक्कं साणुबीयं अकासुयं
णो पडिगाहेज्जा।

(२।१।८।१०३)

सिया एगइओ लद्दं,
लोभेण विणिगूहर्इ।
मा मेयं दाइयं संतं,
दट्ठूं सथमायए॥
(५।२।३।१)

... मामेयं दाइयं संतं, दठ्ठूं सथमायए,
आयरिए वा जाव.....णो किचिवि
णिगूहेज्जा।

(२।१।१०।११३)

सिया एगइओ लद्दं
विविहं पाणभोयणं।
भद्रगं भद्रग भोच्चा,
विवणं विरसमाहरे॥
(५।२।३।३)

से एगइओ अण्णतरं भोयणजायं पडिगाहेत्ता,
भद्रयं भद्रयं भोच्चा, विवनं विरसमाहरइ
माइट्टुणं संफासे, णो एवं करेज्जा।

(२।१।१०।११४)

बहु-अट्टियं पुरगल्,
अणिमिसं वा बहु-कंटयं ।
अत्थिय तिदुयं बिलं,
उच्छु खडं व सिवलि ॥
(५।१।७३)

अपे सिया भोयणजाए,
बहु - उज्जिम्य - घम्माए ।
देंतियं पडियाइक्क्ले,
न मे कप्पड तारिसं ॥
(५।१।७४)

चउणं खलु भासाणं
परिसंखाय पन्नवं ।
दोष्हं तु विणयं सिक्क्वे,
दो न भासेज्ज सव्वसो ॥
(७।१)

जा य सच्चा अवत्तव्वा,
सच्चामोसा य जा मुमा ।
जा य बुद्धिङ्गाइन्ना,
न तं भासेज्ज पन्नवं ॥
(७।२)

तहेव काणं काणे ति,
पंडां पंडो ति वा ।
वाहिय वा वि रोगि ति,
तेण चौरे ति नो वए ॥
(७।२।२)

से ज पुण जासेज्जा, बहुअट्टियं वा
मंस वा, मच्छ वा बहुकट्य अस्ति खलु
पडिगाहियमि अपेसिया भोयणजाए बहु-
उज्जिम्यघम्माए—तह्यगारं बहुअट्टिय वा
मंस वा, मच्छ वा बहुकंटग लाभे मंते जाव
णो पडिगाहेज्जा ।

(२।१।१।०।१।१६)

अह भिक्खु जापेज्जा चत्तारि भासाम्जायाइं
तज्हा—सच्चवंग पढमं भासजायं, बीय
मोम, नड्य मच्चामोस, जं णेव सच्च णेव
मोस नेव सच्चामोस असच्चामोस णाम
नं चउत्थ भासजात ।

(२।४।१।७)

.....जा य भासा सच्चा, जा य भासा
मोसा.....तह्यगारं भासं सावज्जं
मकियिय.....णो भासेज्जा ।

(२।४।१।१०)

.....णो एवं बएज्जा, तंज्हा—गंडी
गंडी ति वा, कुट्टी कुट्टी ति वा, ...

(२।४।२।१।६)

१. बहिरङ्ग परिचय : दक्षनेकास्त्रिक और आचारांश-नूलिका

६७

अज्जए पञ्जए वा ति,
अम्मो माउस्त्रिय त्ति य।
पितस्त्रिए भाइणोज्ज त्ति,
धूए नतुणिए त्ति य॥
(७।१५)

.....इत्यं आमतेमाणे आमंत्रिए य अपहि-
सुणेमाणी नो एवं बएज्जा—होली वा
गोली वा इत्यीगमेण गेतव्वं।
(२।४।१।१४)

हले हले त्ति अन्ने त्ति,
भट्टे सामिणि गोमिणि।
होले गोले कमुले त्ति,
इन्त्यं नेवमालवे॥
(७।१६)

नामधिज्जेण णं बूया,
इत्यीगोत्तेण वा पुणो।
जहारिहमभिगिञ्च
आलवेज्ज लवेज्ज वा॥
(७।१७)

इत्यं आमतेमाणे आमंत्रिए य अपहि-
सुणेमाणी एवं बएज्जा,—आउमो ति वा
भगिणि ति वा भगवह ति वा.....

(२।४।१।१५)

अज्जए पञ्जए वा ति,
बप्पो चुल्लफिउ त्ति य।
माउला भाइणोज्ज त्ति,
पुत्ते नतुणिय त्ति य॥
(७।१८)

...पुम आमतेमाणे आमंत्रिते वा अपहि-
सुणेमाणे णो एवं बएज्जा—होले ति वा
गोले ति वा कमुले ति वा ..
(२।४।१।१२)

हे हो हले त्ति अन्ने त्ति,
भट्टा सामिणि गोमिणि।
होल गोल कमुले त्ति,
पुरिसं नेवमालवे॥
(७।१९)

नामवेज्जेण णं बूया,
पुरिसगोत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिञ्च
आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥
(७।२०)

तहेव मेहं व नहं व माणबं,
न देव देव ति गिरं वएज्जा ।
सम्मुच्छा उन्ना वा पओए,
वएज्ज वा बुटु बलाहण ति ॥
(७।४२)

अंतलिक्खे ति णं बूया,
गुजकाणुचरिय ति य ।
रिद्धिमंतं नरं दिस्स,
रिद्धिमंतं ति आलवे ॥
(७।४३)

सुकडे ति सुपक्के ति,
सुछिन्ने सुहडे मडे ।
मुनिट्ठिा सुलट्ठे ति,
सावजं वज्जा मुणी ॥
(७।४१)

तहेव मण्ससं पसुं,
पक्ख वा वि सगीसिवं ।
थुले पमेइले वज्मे,
पाइमे ति य नो वए ॥
(७।२२)

..... पुमं आमतेभागे आमतिए वा अपडि-
सुऐभाणे एवं वएज्जा अमुगे ति वा
आउसो ति वा आउसंतो ति वा..... ।
(२।४।१।१३)

.....णो एवं वएज्जा, णभोदेवे ति वा
गज्जदेवे ति वा विज्जुदेवे ति वा पवृष्टुदेवे
ति वा निवृष्टुदेवे ति वा ..
(२।४।१।१६)

.....अंतलिक्खे ति वा गुजकाणुचरिए ति
वा संमुच्छए ति वा णिवइए ति वा
पओएवएज्ज वा बुटुबलाहगे ति वा..... ।
(२।४।१।१७)

.....णो एवं वएज्जा, तजहा—सुकडे ति
वा सुठुकडे ति वा साहुकडे ति वा कल्काणे
ति वा करणिज्जे ति वा एयप्पारं भासं
सावजं जाव णो भासेज्जा ।
(२।४।२।२३)

मणुसं वा गोणं वा महिसं वा मिंगं वा
पसु वा पक्खिं वा सरीसिवं वा जलयरं
वा से त्त परिवृढकायं पेहाए णो एवं
वएज्जा—यूले ति वा पमेइले ति वा वट्टे
ति वा वज्जे ति वा.....
(२।४।२।२५)

परिवृद्धे ति णं बूया,
बूया उवचिए ति य।
संजाए पीणिए वा वि,
महाकाए ति आलवे॥
(७।२३)

मणुसं जाव जलयरं वा से तं परिवृद्धकायं
पेहाए एवं बएज्जा तं जहा परिवृद्धकाए ति
वा, उवचियकाए ति वा……चियमंस-
सोणिए ति वा……

(२।४।२।२६)

तहेव गाओ दुजमाओ,
दम्मा गोरहग ति य।
वाहिमा रहजोग ति वि,
नेवं भासेज्ज पन्नवं।
(७।२४)

……गाओ पेहाए णो एवं बएज्जा,
तंजहा—गाओ दोज्माओ ति वा दम्मे ति
वा गोरह ति वा वाहिम ति वा रहजोग
ति वा एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव णो
भासेज्जा।

(२।४।२।२७)

जुव गवे ति णं बूया,
धेणुं रसदय ति य।
रहम्से महल्ले वा वि,
वा संवहणे ति य॥
(७।२५)

……गाओ पेहाए एवं बएज्जा तंजहा
—जुवंगवे ति वा धेणु ति वा रसदय ति
वा हस्से ति वा महल्ला ति वा महब्बए
ति वा संवहणे ति वा एयप्पगारं भासं
असावज्जं जाव अभिकंख भासेज्जा ..

(२।४।२।२८)

तहेव गंतमुज्जाण,
पव्वयाणि वणाणि य।
रुक्खा महल्ल पेहाए,
नेव भासेज्ज पन्नवं॥
(७।२६)

……तहेव गंतमुज्जाणाइं पव्वयाइं
वणाणि य रुक्खा महल्ला पेहाए णो एवं
बएज्जा, तंजहा—पासायजोग्मा ति वा
गिहजोग्मा ति वा तोरणजोग्मा ति वा....।

(२।४।२।२९)

अन पासायवंभाण,
तोरणाणं गिहाण य।
फलिहगलनावाण ,
अल उदगादाणण॥
(७।२७)

तहेव गंतुमुज्जाणां
पव्याणि वणाणि य ।
स्वखा महल्ल पेहाए,
एवं भासेज्ज पन्नवं ॥
(७।३०)

जाइमंता इमे स्वखा,
दीहवट्टा महाल्या ।
प्यायसाला विडिमा,
वा दरिसणि ति य ॥
(७।३१)

तहा फलाइ पक्काइ,
पायखज्जाइ नो वए ।
बेलोइयाइ टालाइ,
वेहिमाइ ति नो वा ॥
(७।३२)

असंथडा इमे अंदा,
बहुनिवट्टिमा फला ।
वएज्ज बहुसंभूया,
भूयरूप ति वा पुणो ॥
(७।३३)

तहेवोसहीओ पक्काओ,
नीलियाओ छवीड़िय ।
लाडमा भजिमाओ नि,
पिहुखज्ज ति नो वए ॥
(७।३४)

...तहेव गंतुमुज्जाणाद् पव्याणि वणाणि
य स्वखा महल्ला पेहाए एवं वएज्जा,
तंजहा—जातिमता इवा दीहवट्टा ति वा
प्यायसाला ति वा विडिमसाला ति वा ।
(२।४।२।३०)

... बहुसंभूया वणफला पेहाए नहावि ते
णो एव वएज्जा तंजहा—गङ्गा ति वा
पायखज्जानि वा बेलोचिया ति वा टाला
ति वा वेहिया ति वा एयामगार भासं
सावज्ज जाव णो भासेज्जा ।
(२।४।२।३१)

बहुसंभूया वणफला अंदा पेहाए
एव वएज्जा, तंजहा—असंथडा ति वा
बहुनिवट्टिमफला ति वा बहुसंभूया ति वा
भूयरूप ति वा एयामगार भासं असावज्ज
जाव भासेज्जा ।
(२।४।२।३२)

बहुसंभूयाओ ओसहीओ पेहाए
तहावि नाओ णो एव वएज्जा, तंजहा—
पक्का ति वा नीलिया ति वा छवीड़िया ति
वा लाडमा ति वा भजिमा ति वा
बहुखज्जा ति वा ।
(२।४।२।३३)

रुदा बहुसम्भूया,
यिरा उसडा वि य।
गविभयाओ पसूयाओ,
ससाराओ ति आलवे॥
(७।५)

.....बहुसभूयाओ ओसहीओ पेहाए
तहावि एवं वएज्जा, तंजहा—रुदा ति वा
बहुसम्भूया ति वा यिरा ति वा उसडा ति
वा गविभया ति वा पसूया ति वा ससारा
ति वा ।

(२।४।२।३४)

तहेव सावज्जणुमोयणी गिर,
ओहृगिणी जाय पगेवधाडणी।
मे कोह लोह भयसा व माणवो,
न हासमाणो वि गिर वण्डा॥
(७।५४)

काहं च माण च माय च लोभ च अणुबीइ
णिट्टाभासी णिसम्म भासी अतुरियभासी
विवेगभासी.....।

(२।४।२।३५)

सवक्कसुर्दि समुपेहिया मुणी,
गिर च दुट्ठ परिक्कज्जए सया।
मिय अदुट्ठ अणुबीइ भासा,
सयाण मज्जे लहर्डि पससण॥
(७।५५)

१२—दशवैकालिक का उत्तरवर्ती साहित्य पर प्रभाव

दशवैकालिक का उल्लेख श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में है। नंदी के अतिरिक्त तत्त्वार्थ भाष्य और गोमटमार में इसे अग-बाहु श्रुत कहा है।^१ जयघवला के अनुसार यह मात्रावाँ अग-बाहु श्रुत है।^२ मवीर्यसिद्धि के अनुसार वक्ता नीन प्रकार के होते हैं—तीर्थंकर, गणधर और आरातीय आचार्य। काल-दोष से आय, मति और बल न्यून हुए, नव शिष्यों पर अनृप्रह कर आरातीय आचार्यों ने दशवैकालिक आदि आगम रचे। घडा क्षीर-समुद्र के जल में भग द्वारा हुआ है, उसमें घडे का अपना कुछ नहीं है, जो कुछ है वह क्षीर-समुद्र का ही है, इसलिए उस घडे के जल में वही मिठास मिलती है जो क्षीर-समुद्र में होती है। इसी प्रकार जो आरातीय आचार्य किसी प्रयोजनवश पूर्वों या अंगों में किसी अग-बाहु श्रुत की रचना करते हैं, उसमें उनका अपना नया तत्त्व कुछ भी नहीं होता, जो कुछ होता है वह अंगों में गृहीत होता है इसलिए वह प्रामाणिक माना जाता है।^३

दशवैकालिक के इलोकों का उत्तरवर्ती साहित्य में प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। यापनीय संघ में दशवैकालिक का अध्ययन होता या और वे इसे प्रमाण भी मानते थे। यापनीय संघ के आचार्य अपराजित मूरि ने भगवती आगाधना की वृत्ति (विजयोदया) में दशवैकालिक का प्रयोग किया है।^४

(क) तत्त्वार्थ भाष्य, १२०।

(ल) गोमटसार (जीवकाण्ड), गाथा ३६७ :

दशवैयालं च उत्तरज्ञक्यणं ।

२—कवायपाहुड (जयघवला साहित) माग १, पृष्ठ १३२५।

३—सच्चार्यसिद्धि, १२० :

आरातीयैः पनराचार्यैः कालदोषात्तसंसायुमतिक्षलशिष्यानुप्रहार्थ दशवैकालिकाद्युपनिवद्धम् । तत्प्रमाणमर्यात्तस्तदेवेवमिति क्षीरार्णवजलं घटगृहीतमिति ।

४—मूलाराधना, आख्यास ४, इलोक ३३, वृत्ति, पत्र ६११।

(क) दशवैकालिकाधारम् उत्तम—

गणणस्तस्य मुण्डस्तस्य वीहूलोमणस्तस्य ।

मेहृणादो विरतस्तस्य किं विमूसा करिस्तदि ॥

(ल) आचारप्रणिधौ भवितं—

प्रतिलिङ्गेत् पात्रकम्बलं ध्रुवमिति । असत्तु पात्राविषु कथं प्रतिलेखना ध्रुवं क्रियते ।

१. बहिरङ्ग परिचय : दशवैकालिक का उत्तरवर्ती साहित्य पर प्रभाव ७३

आवश्यक निर्युक्ति, निशीथचूर्णि, उत्तराध्ययन बृहदृति तथा उत्तराध्ययन चूर्णि में दशवैकालिक की गाथाओं का उद्धरण अथवा उसका उपयोग विविध प्रसंगों पर हुआ है। उनमें से कुछ का विवरण नीचे कराया जाता है।

१—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४१, बृति पत्र १४९ में दशवैकालिक के अतुर्थ अध्ययन “छज्जीवणिया” का “बृहदृजीवनिका” के रूप में उल्लेख हुआ है—
देखिए पृष्ठ ४० की पाद-टिप्पणी।

२—निशीथ चूर्णि	पृष्ठ	दशवैकालिक के स्थल
विभाग		
१	७	५१२१५
१	१३	१११
१	१०६	५११८
१	१६३	७१४७
२	१२५	५१२१३३
२	१२६	५११९८
२	३५९	६८
२	३६३	८०२११२
३	४८३	८१२६
३	५४७	५११७४
४	३९	५१२१८
४	३२	५११७३; ६१६०
४	३३	८१४०
४	१४३	८१५७
४	१५७	८०२१५
४	२७२	४। स०१३

३—उत्तराध्ययन बृहदृति	पत्र	दशवैकालिक के स्थल
१।३।१ बृति	५९	५१२१८
२।१३ बृति	६४	६।१९, २१
३।१३ बृति	१८६	१।२।२
५।३।१ बृति	२५४	८।६०
६।३।२ बृति	४१५	५१२।१ साधि-जाहि।

४—उत्तराध्ययन चूर्णि :	पृष्ठ	दशवेकालिक के स्पर्श
११३४ चूर्णि	४०	५११२४
२१४१ चूर्णि	८३	६०१६०१८
५११८ चूर्णि	१३७	५११९४ मावि-मावि ।

शत्र्यम्भव में पहले उत्तराध्ययन आचारांग के पश्चात् पढ़ा जाता था किन्तु दशवेकालिक की रचना के पश्चात् इस क्रम में परिवर्तन हुआ और वह दशवेकालिक के पश्चात् पढ़ा जाने लगा।^१ तेगपंथ-सघ में नव-दीक्षित मुनि को प्रारम्भ में यही सूत्र पढ़ाया जाता है। अन्य सम्प्रदायों में भी यही प्रथा है। दिगम्बर-सम्प्रदाय के अनुसार दशवेकालिक आचारीय आचार्य-कृत अंग-बाह्य श्रुत है। परन्तु माना जाता है कि वह आज उपलब्ध नहीं है और जो उपलब्ध है, वह अप्रभाण है।^२

१—(क) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, मात्रा ३ ।

(ल) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २ :

उत्तराध्ययणा पुञ्च आचारस्मुबरि आसि, तत्त्वेव तेसि उबोद्धात संबंधा-
मिवत्याणं, ताणि पुण जप्तमिङ्ग अज्ञासेऽज्ञामवेण मणगप्तितुमा मणगहियत्वाए
णिङ्गहियत्वाणि इस अज्ञायणाणि दशवेकालिय मिति, तम्मि चरणकरणाणु-
योगो विज्ञाप्तति, तप्यमिङ्ग च तस्मुबरि डवित्ताणि ।

(ग) उत्तराध्ययन हृहृ, पृष्ठ ५ :

आचारस्पोपर्येव—उत्तराध्ययन ‘इमानी’ति हृदि चिपरिवर्तमानतया
प्रत्यक्षाणि, पठितवन्त इति गम्यते, ‘तुः’ विशेषणे, विशेषश्वायं यथा—शत्र्यम्भवं
यावदेव क्रमः, तदाऽस्तु दशवेकालिकोसरकारं पठ्यन्त इति ।

२—जैन साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५३ ।

१३—तुलना (जैन, बौद्ध और वैदिक)

भारतीय जन-मानस जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनों धाराओं से अभिवित रहा है। इन तीनों में अत्यन्त नैकट्य न भी रहा, तो भी उनके अन्तर्दर्शन में अत्यन्त दूरी भी नहीं रही। यही कारण है कि उन तीनों में एक दूसरे का प्रतिबिम्ब मिलता है। कौन किस का ऋणी है, यह सहजतया नहीं कहा जा सकता। सत्य की सामान्य अभिव्यक्ति सब में है और इसी को हम तुलनात्मक अध्ययन कहते हैं। सत्य एक है। उसकी किसी के साथ तुलना नहीं होती। उसकी शब्दों में जो समान अभिव्यक्ति होती है, उसी की तुलना होती है।

इस मूल के कलिपय पदों की बोध तथा वैदिक साहित्य के पदों से तुलना होती है। कहीं-कहीं शब्दसाम्य और कहीं-कहीं अर्थसाम्य भी है। वह यों है—

धर्मो मंगलमुकिट्ठं,
अहिसा संज्ञमो तवो ।
देवा वि तं नमस्ति,
जस्त सधर्मे सया मणो ॥
(११)

यम्ह छञ्च च धर्मो च,
अहिसा संयमो दमो ।
स वे वंतमलो वीरो,
सो वेरोति पवृच्छति ॥
(धर्मपद १११६)

जहा दुमस्त सुप्फेसु,
भमरो आविष्य रस ।
न य पुण्यं किलामेइ,
सो य पीणेऽ अप्यय ॥
(१२)

यथापि भमरो पुण्यं,
वण-नंधं अहेठय ।
पलेति रसमादाय,
एव गामे मुनी चरे ॥
(धर्मपद ४१६)

कहं नु कुर्जा सामणं,
जो कामे न निवारए ।
पए पए विसीयंतो,
संकप्यस्त वसं गओ ॥
(२१)

कतिहं चरेय्य सामङ्गं,
वित्तं चे न निवारए ।
पदे पदे विसीदेय्य,
सङ्कल्पानं वसानुगो ॥
(संयुक्तनिकाय १११७)

विरत्यु ते जसोकामी,
जो नं जीवियकारणा ।
वन्तं इच्छसि आवेत्,
सेयं ते मरणं भवे ॥
(२१७)

विरत्यु तं विसं वन्तं,
यमह् जीवितकारणा ।
वर्तं पञ्चावमिस्सामि,
मतम्भे जीविता वरं ॥
(विसवन्त जातक ६६)

उद्देसिय कीयगड़,
नियागमभिहडाणि य ।
गइभन्ते सिणाणे य,
गंधमल्ले य वीयणे ॥
सन्निही गिहिमत्ते य,
गयपिडे किमिच्छाण ।
संबाहणा दंतपलोयणा य,
संपुरुष्णणा देहपलोयणा य ॥
(३।२,३)

केश-रोम-नख-श्मशु-मलार्नि विभृयाद् दत ।
न घावेदम् मज्जेन श्रिकालं स्थिष्ठिलेशय ॥
(भागवत ११।१८।३)

धूवणेति वमणे य,
वत्थीकम्म विरेयणे ।
अंजणे दंतवणे य,
गायाभंगविभृसणे ॥
(३।६)

अञ्जनास्यञ्जनोन्मदंस्यवलेखामितं मधु ।
स्वगमन्वलेपालंकारांस्यजेयुर्ये धृतव्रता ॥
(भागवत ७।१२।१२)

१. बहिरङ्ग परिचय : तुलना (जैन, बौद्ध और वैदिक)

७७

आयावयंति	गिम्हेसु,	स्त्रीमे पंचतपास्तु स्थाद्, वर्षस्वत्रावकाशिकः ।
हेमंतेसु	अवाउडा ।	आद्रं वासास्तु हेमन्ते, क्रमशो वर्षयस्तपः ॥
वासासु	पडिसंलीणा,	(मनुस्मृति ६।२३)
संजया	सुसमाहिया ॥	

(३।१२)

कहं चरे ? कह चिट्ठे, ?
 कहमासे ? कह सए ? ।
 कह भुजन्तो भासन्तो, ?
 पावं कम्मं न बघई ? ॥

(४।७)

स्थितप्रजात्य का भाषा, समाधिस्थाय केशव ।
 स्थितर्थी कि प्रभापेत, किमासीत व्रजेत किम् ॥

(गीता २।५४)

जयं चरे जय चिट्ठे,
 जयमासे जयं सए ।
 जयं भुजन्तो भासन्तो,
 पावं कम्मं न बघई ॥

(४।८)

यतं चरं यतं तिट्ठे यतं अच्छं यतं यये ।
 यतं सम्मिघ्नये भिक्खू, यतमेनं पसारए ॥

(इनिवृत्तक १२)

सब्बभूयप्पभूयस्त
 सम्मं भूयाइ पासओ ।
 पिहियासवस्स
 पावं कम्मं न बघई ॥

(४।९)

योगयुक्तो ,
 विजितास्था जितेन्द्रिय ।
 सर्वभूतात्मभूतात्मा ,
 कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

(गीता ५।७)

पढ़मं नाण तओ दया,
एवं चिट्ठुइ सब्बसंजाए ।
अन्नाणी कि काही ?
कि वा नाहिइ छ्येय पावगं ? ॥
(४११०)

न हि जानेन सहशं पवित्रमिह विद्यते ।
(गीता ४।३८)

कालेण निकलमे भिक्खु,
कालेण य पड़िकरमे ।
अकालं च विवज्जेता,
काले कालं समायरे ॥
(५।२।४)

काले निकलमणा साधु,
नाकाले साधु निकलमो ।
अकालेनहि निकलम्,
एकर्कपि बहूजनो ॥
(कोशिक जातक २२६)

सब्बे जीवा वि इच्छान्ति,
जीविषं न मरिजित ।
तम्हा पाणवहं धोर,
निगंथा बज्जयंति ण ॥
(६।१०)

सब्बा दिमा अनुपरिगम्य चेत्या,
नेव अभग्ना पियतरमत्तना कवचि ।
एवं पियो पुयु अन्ना परेसं,
तम्हा न हिसे परमतकामो ॥
(मंयुलनिकाय १।३।८)

उवसमेण हणे कोह,
..... ॥
(८।३८)

अङ्कोधेन जिने कोधं ।
(धर्मपद १।३।३)

थंभा व कोहा व मयप्पमाया,
गुह्यतगासे विणयं न सिक्ख ।
सो चेव उ तस्स अभूझभावो,
फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥
(६।१।१)

यो सासनं अरहतं अरियानं धर्मजीविनं ।
पटिकोसति दुम्भेषो दिट्ठु निस्ताय पात्रिं ।
फलानि कटुकसेव अत्तधञ्जाय फुलति ॥
(धर्मपद १।२।८)

१. बहिरङ्ग परिचय तुलना (जैन, बौद्ध और वैदिक)

७६

तहेव असण पाणगं वा,
विविह खाइमसाहमं लभित्ता ।
होही अटो सुए परे वा,
तं न निहे न निहावए जे
स भिक्खू ॥
(१०१८)

अल्लानमयो पानानं,
खादनीयानमयो पि वत्थानं ।
लद्धा न सन्निधि कथिरा,
न च परित्तसे तानि अलभमानो ॥
(मुत्तनिपात ५२।१०)

न य वुग्महियं कहं कहेज्जा,
न य कुप्ये निहृदंदिए पसन्ते ।
सजमधुवजोगजुने ,
उवसते अविहेडए जे
स भिक्खू ॥
(१०१९)

न च कत्तिया सिया भिक्खू,
न च वाचं पयुतं भासेय ।
पागविभयं न सिक्खेय,
कथं विमाहिकं न कथेय ॥
(मुत्तनिपात ५२।१६)

जो सहड हु गामकंटए,
अव्कोसपहारतज्जणाओ य ।
भयमेरवसद्संपहासे ,
समसुहदुक्खसहे य जे
स भिक्खू ॥
(१०११)

भिक्खुनो विजिगुच्छतो, भजतो रित्तमासनं ।
रुक्खमूलं मुसानं वा, पञ्चतानं गुहानु वा ।
उच्चावचेसु, सयनेसु, कीवतो तत्य भेरबा ।
ये हि भिक्खु न वेष्य, निघोसे सयनासने ॥
(मुत्तनिपात ५४।४,५)

हत्यसजए पायसंजए,
वायसंजए संजइदिए ।
अजम्परए मुसमाहियप्पा,
मुत्तत्य च वियाणई जे
स भिक्खू ॥
(१०१५)

हत्यसयनो पादसंयतो,
वाचाय संयतो संयतुतमो ।
अजमत्तरतो समाहितो,
एको मनुसितो तमाहु भिक्खु ॥
(धम्पद २५।३)

अलोल भिक्खू न रसेसु गिद्धे,
 उद्धं चरे जीविणाभिकंते ।
 इङ्गु च सक्कारण पूयणं च,
 चए ठिप्पा अणिहे जे
 स भिक्खू ॥
 (१०।१७)

चक्रूहि नेव लोलस्स,
 गामकथाय आवरये सोतं ।
 रमे च नानुगिज्जेय्य,
 न च ममायेय किञ्चि लोकस्मि ॥
 (मुत्तनिपात ५२।८)

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय २

अन्तर्रंग परिचय

१—साधना

ममग्र-दर्शन :

निर्युक्ति आदि व्याख्याओं के अनुमार हम दर्शकोंकालिक के विषय की मीमांसा कर चुके हैं। अब स्वतंत्र दृष्टि से इस पर विचार करेंगे। परिच्छेदों के क्रम से यह अनेक भागों में बैठा हुआ है। पर समग्र-दृष्टि से देखा जाए तो यह अहिंसा का अवधं दर्शन है।

अहिंसा परम धर्म है। देव मव महावन उसी के प्रकार है।^१ भगवान् महावीर के आचार का केन्द्र-बिन्दु अहिंसा है। उन्होंने भिक्षु के लिए आचार और अनाचार, विष और नियेष तथा उत्सर्ग और अपवाद का जो रूप स्थिर किया, उसका मौलिक आधार अहिंसा है। कुछ विष-नियेष भव्यमी जीवन की सुरक्षा^२ और कुछ प्रवचन-गोरव^३ (संघीय महान्व) की दृष्टि से भी किए गए हैं, किन्तु वे भी अहिंसा की मीमा से परे नहीं हैं। जो नियेष अहिंसा की दृष्टि से किए गए हैं, उनका विधान नहीं किया, उनको अनाचार की कोटि से ही रखा। किन्तु जिनका नियेष निविक्षा की दृष्टि से किया, उनका विशेष स्थिति में विधान भी किया।

अहिंसा धर्म का एक रूप है और उसका दूसरा रूप है परीष्व-महन।^४ दूसरा रूप की अभिव्यक्ति 'देहे दुखं महाफलं' (१।२।७) —देह से दुख उत्पन्न होना है, उसे महन करना महान् फलदायी है—इन शब्दों से हुई है। स्वीकृत मार्ग से चुन न होने और मंचित कर्म-फल को नष्ट करने के लिए भगवान् ने परीष्व-महन का उपदेश दिया।^५

१—अगस्त्य कूर्णि :

अहिंसा परमो भस्मो, सेसाणि महत्वताणि एतस्तेव अत्यजितेसमाणि ।

२—दर्शकोंकालिक, ४।२।३ ।

३—जही, ४।२।१२ ।

४—सूक्ष्मतांग, १।२।१।१४ कृति :

अविहिंसामेव पश्चए, अभुधम्मो मुणिणा पश्चेतितो ॥ अनुशतो—मोक्षं प्रत्यनुकूलो भस्मोऽनुर्धमः असावहिंसालक्षणः, परीष्वहोपसर्गसम्भूतःक्षणस्व धर्मों 'मुनिन्' सर्वज्ञेन 'प्रशेतितः' कमित इति ।

५—तस्मार्थसूत्र, १।८ :

मार्गाव्यवननिर्जरार्थं परिसोद्ध्याः परीष्वहाः ।

विनय के बिना ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना सम्पन्न नहीं हो सकती और धर्म-शासन की व्यवस्था नहीं बन सकती, इसलिए भगवान् ने विनय को धर्म का मूल कहा है।^१

साधना का उत्कर्ष अप्रमाद से होता है। अप्रमाद के मुख्य साधन हैं—स्वाध्याय और ध्यान। नीद, अद्वृहास और काम-कथा—ये उनके बावजूद हैं, इसलिए भगवान् ने कहा—नीद को बहुमान मत दो, अद्वृहास मत करो और काम-कथा मत करो।^२

निष्कर्ष की भाषा में—(१) अहिंसा और उमके विविध पहलू सत्य, अचोर्य, ग्रह्यचर्य और अपरिप्रह आदि, (२) संयमी जीवन की सूरक्षा, (३) प्रवचन-गौरव, (४) परीपह-सहन; (५) विनय और (६) साधना का उत्कर्ष—ये मूलभूत दृष्टियाँ हैं। इनके द्वारा भगवान् महावीर के आचार-निष्ठण की यथार्थता देखी जा सकती है। सारे विधि-नियेष्ठों को एक दृष्टिकोण से देखने पर जो असमंजसता आती है, वह समय-दृष्टि से देखने पर नहीं आती। आचार-दर्शन की ये दृष्टियाँ वे नेत्राएँ हैं, जिनका एकीकरण निर्दर्शन के जीवन का सजीव चित्र बन जाता है।

साधना के उत्कर्ष का दृष्टिकोण :

साधना का उत्कर्ष पाएँ बिना साध्य नहीं संभवता। सिद्धि का मनलब है साधना का उत्कर्ष। आत्मार्थी का साध्य मोक्ष होता है। उमका साधन है धर्म। उसकी साधना के तीन अंग हैं—अहिंसा, संयम और तप। इनसे तादात्म्य पान का नाम 'योग' है। आचार्य हण्डिद्र ने मोक्ष से जोड़ने वाले समृच्छे धर्म-व्यापार को योग माना है।^३ आचार्य हेमचन्द्र न मोक्ष के उपायभन्न मध्यके ज्ञान, दर्शन और चारित्र को योग कहा है।^४

१—दशबैकालिक, १।२।२ :

एवं धर्मस्त विणाऽ मूलं ।

२—बही, ८।४।

३—योगविन्दु, ३।

मोक्षेण जोयणाऽमो, जोगो सञ्चो वि धर्म-वावासो ।

४—(क) योगशास्त्र :

मोक्षेण योजनाद योगः ।

(ख) अमिधानचिंतामणि, १।७।

मोक्षोपायो योगो ज्ञानशद्वानवरणात्मकः ।

योग शब्द युज् धातु से बनता है। उसके दो अर्थ हैं—जोड़ना और समाधि। पहले सम्बन्ध होता है फिर समाधि। मन आत्मा के साथ जुड़ता है, फिर स्थिर होता है। इसीलिए कहा है—मन, वाणी और कर्म को श्रमण-धर्म से जोड़ो। जो श्रमण-धर्म से युक्त है, उसे अनन्तर-अर्थ (समाधि) की प्राप्ति होती है।^१ महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंगों का निरूपण किया है।^२

जैन-परम्परा में प्राणायाम को चित्त-स्थिरता का हेतु नहीं माना गया है।^३ इसके अन्तर्गत शेष सात अंग अपनी पद्धति में मान्य रहे हैं। श्रमण-धर्म की साधना का प्रारम्भ पौच भ्रातृवतों के अंशीकार में होता है। उनका चौथे अध्ययन में व्यवस्थित निरूपण हुआ है। पतंजलि के शब्दों में ये यथ है।^४

जौच, मनोष, नय, स्वाध्याय और आत्मप्रणिधान का आठवें अध्ययन में बड़ी मूर्ख-हट्टि में निरूपण हुआ है।^५ जैन-हट्टि भाव-जौच को ही प्रधानता देती है और भाव-जौच वही मान्य है, जो भाव-जौच के अनुकूल हो।^६ इसी प्रकार उमे आत्मा और

१—दशवैकालिक, ६।४२।

२—पातंजल योगवर्णन, २।२९ :

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणायानसमाधयोऽस्तावङ्गानि ।

३—(क) पातंजल योगवर्णन, १।३४ यशोविजयजी हुत वृत्ति :

अनैकान्तिकमेतत्, प्रसहृ ताम्यां मनो व्याकुलीभावान् 'उत्सासं ण णिहंमह'
इत्यादि पारमर्थेण तन्निवेद्याच्च, इति ।

(ख) योगशास्त्र, ६।४० :

तन्मामोति मनः स्वास्थ्यं, प्राणायामैः कर्वितम् ।

प्राणस्यायमने पीडा, तस्यां स्पान् चित्तविकल्पः ॥

(ग) आवश्यक निर्युक्ति, गाया १५२० वृत्ति :

मगदत्प्रवचने तु व्याकुलताहेतुत्वेन निविदु एव श्वासप्रवासरोषः…

प्राणारोष पलिमन्त्यस्यान्तिप्रयोजनवात् तत्त्वस्तं—'उत्सासं ण णिहंमह'

४—पातंजल योगवर्णन, २।३०, ३१ :

तत्राहिंसासत्यास्तेष्वाहार्यपरिप्राहा यमाः ।

जातिवेशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वमौमा महाव्रतम् ।

५—वही, २।३२ :

शौकसन्तोषतपःस्वाध्यायेवप्रणिधानानि नियमाः ।

६—वही, २।३२ यशोविजयजी हुत वृत्ति :

मावशौकानुपरोऽयेव इव्यामौचं बाहुमादेयमिति तस्वर्वाणिनः ।

ईश्वर का मौलिक भेद मान्य नहीं है। आत्मा का विकसित रूप ही परमात्मा है। जो आत्मा का प्रणिधान है, वही ईश्वर-प्रणिधान है।^१ ध्यान करने के लिए काय-व्युत्सर्ग (शरीर के स्थिरीकरण) को प्रमुखता दी है।

आसन करना जैन-परम्परा को इष्ट रहा है। पतंजलि जिसे 'प्रत्याहार' कहते हैं, उसे जैनाश्रम की भाषा में इन्द्रिय-निग्रह कहा गया है।^२ धारणा का व्यापक रूप यतना है।^३ मंयम के लिए, जो प्रवृत्ति की जाए, उसी में उपर्युक्त (तच्चित्त) होना, दूसरे सारे विषयों में मन को हटा कर उसी में लगा देना यतना है।^४ जैन-साहित्य में समाधि शब्द का प्रयोग प्रचूर मात्रा में हुआ है। किन्तु उसका अर्थ पतंजलि के समाधि शब्द में भिन्न है।^५ उसकी तुलना शुक्ल-ध्यान से होती है। समाधि या ध्यान का चरम रूप शैलेशी अवस्था है।^६ उस प्रकार प्रमुख आश्रम में योग के बीज छिपे पड़े हैं। आत्म-विकास के लिए इन्हे विकसित करना आवश्यक है। जो श्रमण इस ओर ध्यान नहीं देता, उसके विशिष्ट ज्ञान का उदय होते-होते रुक जाता है। जो श्रमण बार-बार स्त्री भक्त, देश और राज-सम्बन्धी कथा करता है, विवेक और व्युत्सर्ग से आत्मा को भावित नहीं करता, तात्त्व के पहले और पिछले प्रहर में धर्म-जागरिका नहीं करता और शृङ्खला की सम्यक् गवेषणा नहीं करता, उसके विशिष्ट ज्ञान का उदय होते-होते रुक जाता है।^७ विशिष्ट ज्ञान का लाभ उसे होता है, जो विकाया नहीं करता, विवेक और व्युत्सर्ग से आत्मा को भावित करता है तथा पूर्व-रात्रि और अपर-रात्रि में धर्म-जागरण पूर्वक जागता है और शुद्ध भिद्धा की सम्पूर्ण गवेषणा करता है।^८ प्रमुख आश्रम में इस भावना का बहुत ही मूल्यना में निरूपण हुआ है। इसके लिए पाद-ठिप्पण में निर्दिष्ट स्थल द्रष्टव्य है।^९

१—समाधिशतक, ३।

यः परात्मा स एवाहुं योऽहं स परमस्ततः ।

अहमेव भयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥

२—दशवेकालिक, ३।१।

३—बही, ४।८।

४—पातंजल योगदर्शन, ३।१ : देशबन्धशिवतस्य धारणा ।

५—बही, ३।३ तदेवार्थमात्रनिर्मासं स्वरूपशून्यभिव समाधिः ।

६—दशवेकालिक, ४।२।४।

७—स्वानांग, ४।२।२।८।

८—बही, ४।२।२।८।

९—दशवेकालिक (भा० २), दौर्जवाँ अध्ययन ; ८।१४; तथा बूलिका २।१२ ।

२—साधना के अंग

अहिंसा का दण्डिकोण :

नियन्त्र के साधनामय जीवन का प्रारम्भ महाव्रत के स्वीकार से होता है। वे पाँच हैं अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। अहिंसा शास्वत धर्म है। भगवान् महावीर ने इनका निरूपण किया, इनसे पहले अनीत के तीर्थंकर इसका निरूपण कर चुके थे और भविष्य के तीर्थंकर भी इसका निरूपण करेंगे।^१ संक्षेप में यही महाव्रत है। विस्तार की ओर चले तो अहिंसा और अपरिग्रह महाव्रत के ये दो रूप बन जाते हैं।^२ अहिंसा, सत्य और बहिस्तात्-आदान—यह तीन महाव्रतों का निरूपण है।^३ प्राणानिपात्-विरमण, मृत्युवाद-विरमण, अदत्तादान-विरमण और बहिस्तात्-आदान-विरमण—यह चातुर्याम धर्म है।^४ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच महाव्रत हैं।^५ रात्रि-भोजन-विरति छठा व्रत है।^६ जैन आगमों के अनुसार बाईंस तीर्थंकरों के समय चातुर्याम धर्म रहा है और पहले (ब्रह्मदेव) तथा चौबीसवें तीर्थंकर (महावीर) के समय पञ्चमहाव्रतात्मक धर्म रहा।^७ एक, दो और तीन महाव्रतों की परम्परा रही या नहीं, यह निष्ठ्यपूर्वक नहीं कहा जा सकता। किन्तु हिंसा और परिग्रह पर स्थानांग^८ आदि में अधिक प्रहार किया गया है, इसमें लगता है कि असंयम

१—आचारांग, १।४।१।२७।

२—सूत्रहस्तांग, २।१।

३—आचारांग, १।८।१।९७।

जामा तिणि उदाहित्या।

४—स्वामांग, ४।१।२६६।

५—उत्तराध्ययन, २।१।१२।

६—इशवैकालिक, ४।सूत्र १७।

७—उत्तराध्ययन, २।३।२३, २४।

८—स्वामांग, २।१।६४।

का मूल इन्हीं को माना गया। अहिंसा ही वर्म है, शेष महाव्रत उसकी सुरक्षा के लिए हैं—यह विचार आगम के उत्तरवर्ती-साहित्य में बहुत दृढ़ता से निरूपित हुआ है।^१

धर्म का मौलिक रूप सामाजिक-चारित्र—समता का आचरण है। इसके अखण्ड रूप को निश्चय-हृषि में अहिंसा कहा जा सकता है और व्यवहार-दृष्टि में उसे अनेक भागों में बटोंडा जा सकता है। आचारांग के निर्युनिकार ने संयम का सामान्यत एक रूप माना है और भेद करते-करते वे उसे अठारह हजार का संब्दा तक ले गए हैं।^२ उन्होंने निरूपण, विभाजन और जातकारी की दृष्टि में पाँच महाव्रत की व्यवस्था को मण्डलम् माना है।^३

पाँच महाव्रतों को दर्शकालिक की आत्मा मानें तो शेष विषय को उम्का पोषक-तत्त्व कहा जा सकता है।

महाव्रतों की भावनाएँ :

पाँच महाव्रतों की सुरक्षा के लिए पचीम भावनाएँ हैं।^४ नीचे बाहूं और प्रस्तु-

१-(क) पञ्चसंधाः :

एकं विष्य एकवर्यं, निदिहुं जिणवरेहि सञ्चेहिं ।
पाणाइवायाविरमण, सञ्चसत्तस्स रक्षद्वा ॥

(ख) हारिमद्रीय अष्टक, १६।५ :

अहिंसैषा मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।
एतसंरक्षणार्थं च, न्यायं सत्याविपालनम् ॥

(ग) हारिमद्रीय अष्टक, १६।५ बृत्तिः :

अहिंसाशत्यसंरक्षणे वृत्तिकल्पत्वात् सत्याविक्षतानाम् ।

२-आचारांग निर्युक्ति, गाथा २९३, २९४ ।

३-बही, गाथा २९५ ।

४-(क) आचारांग निर्युक्ति, गाथा २९६ :

तेसि च रक्षणद्वाय, मावणा पंच पंच हक्षिते ।

(ख) तत्त्वार्थमूल, ७।३ :

तत्त्वैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ।

व्याकरण से एवं दाहिनी ओर आचारांग से प्रत्येक महाव्रत की भावनाएँ दी जा रही हैं।

१—अहिंसा महाव्रत की भावनाएँ

- | | |
|---------------------------------------|-------------------------|
| १—ईया-समिति ^१ | १—ईया समिति |
| २—अपाप-मन (मन-समिति) ^२ | २—मन-परिज्ञा |
| ३—अपाप-वचन ^३ (वचन-समिति) | ३—वचन-परिज्ञा |
| ४—गद्याणा-समिति ^४ | ४—प्रादान-निष्ठेष-समिति |
| ५—आदान-निष्ठेष-समिति ^५ | ५—आलोकिन-पान-भोजन |

२—सत्य महाव्रत की भावनाएँ

- | | |
|----------------------|-----------------------------------|
| १—अनवीचि-भाषण | १—अनवीचि-भाषण ^६ |
| २—क्रोध-प्रत्यास्थान | २—क्रोध-प्रत्यास्थान ^७ |

३—प्रश्नव्याकरण, संवरद्धार १ :

ठाणगमणगुणजोगमुंजणगुंतरणिवाइयाए दीट्टिएईरियव्वं ।
मिलाइए—दशवैकालिक, ५।१।३ ।

४—बही, संवरद्धार १ :

ण कायावि भणेण पावणं पावगं किंचि वि भाष्यव्वं ।
मिलाइए—दशवैकालिक, ८।६२ ।

५—बही, संवरद्धार १ :

बहए पावियाए पावगं ण किंचि वि भासियव्वं ।
मिलाइए—दशवैकालिक, ७।५६ ।

६—बही, संवरद्धार १ :

आहारएसणाए मुद्दं उड्छं गवेसियव्वं—अहिंसए संजेए मुसाहू ।
मिलाइए—पौर्खवाँ अःयन (विशेषतः भोगेवणा का प्रकारण) ।

७—बही, संवरद्धार १ :

अप्पमत्तेण होइ सप्यं णिविलयव्वं य णिणिहयव्वं ।
मिलाइए—दशवैकालिक, ५।१।८५,८६ ।

८—आचारांग, २।३।१५ :

अगुवीड्हमासी से निबंधे ।
मिलाइए—दशवैकालिक, ७।५५ ।

९—बही, २।३।१५ :

कोहुं परियाणह से निबंधे ।
मिलाइए—दशवैकालिक, ७।५४ ।

- | | |
|---------------------------|-----------------------------------|
| ३—लोभ-प्रत्यास्थान | ३—लोभ-प्रत्यास्थान ^१ |
| ४—अभय (भय-प्रत्यास्थान) | ४—अभय ^२ |
| ५—हास्य-प्रत्यास्थान | ५—हास्य-प्रत्यास्थान ^३ |

३—अचौर्य महानंत की भावनाएँ

- | | |
|------------------------------------|-------------------------|
| १—विवित्वास-वसति ^४ | १—अनुबीच-मितावग्रह-याचन |
| २—अभीष्टा-अवग्रह-याचन ^५ | २—अनुज्ञापित-पान-भोजन |
| ३—शत्या-ममिति ^६ | ३—अवग्रह का अवधारण |

१—आचारांग, २।३।१५

लोमं परियाणइ से निमंये ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ७।५४ ।

२—वही, २।३।१५ :

नो भयमीलए सिया ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ७।५४ ।

३—वही, २।३।१५ :

हासं परियाणइ से निमंये ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ७।५४ ।

४—प्रश्नव्याकरण, संवरद्धार ३ ।

अंतो बहि च असंज्ञो जट्य बड्डती संजयाण अट्टा बजेयवो हु उवस्तओ से तारिसए सुत्तप्तिकुटे । एवं विवित्वासवस्तुमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्या ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।५१,५२ ।

५—वही, संवरद्धार ३ :

वे हणि हणि उगाहं अगुलविषय गिरिह्यवं ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।१३;८।५ ।

६—वही, संवरद्धार ३

तीढकलगसेष्जासंचारगद्याए रक्षो न छिदियवो न छेदणेण भेदणेण-सेष्जा कारेयवा जस्तेब उवस्तते वसेक्ज सेष्जं तत्येव गवेसेज्जा, न य विसमं समं करेज्जा ।

मिलाइए—दशवैकालिक ८।५१ ।

४—साधारण-पिण्ड-पात्र लाभ^१

५—विनय-प्रयोग^२

४—अभीक्षण-अवग्रह-याचन

५—साधार्मिक के पास से अवग्रह-याचन

४—ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनाएँ

१—असंसक्त-वास-वस्ति^३

२—स्त्री-जन में कथा-वर्जन^४

१—स्त्रियों में कथा का वर्जन

२—स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों के अवलोकन का वर्जन

३—स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग और चेष्टाओं के

अवलोकन का वर्जन^५

३—पूर्व-भृत-भोग की स्मृति का वर्जन

१—प्राह्लादाकरण, संवरद्धार ३ :

साहारणपिण्डपातलामें भोतव्यं संजाएं समियं न सायसूपाहिकं, न लद्धं न वेगितं, न तुरियं, न चबलं, न साहतं, न य परस्स पीलाकर सावजं तह भोतव्यं जह से तत्त्वयव्यं न सीदति ।

मिलाइए—दशबैकालिक, अध्ययन ५ ।

२—बही, संवरद्धार ३ :

साहमिमां विणओ पउंजियब्बो, उबकरण पारणासु विणओ पउंजियब्बो दाणगहणपुञ्छणासु विणओ पउंजियब्बो, निक्षमणपवेसणासु विणओ पउंजियब्बो, अन्नेसु य एबमादिसु बहुसु कारणसएसु विणओ पउंजियब्बो, विणओवि तबो तबोविधम्मो तम्हा विणओ पउंजियब्बो, गुरुसु साहसु तवस्सीमु य, विणबो पउंजियब्बो ।

मिलाइए—दशबैकालिक, अध्ययन ९ ।

३—बही, संवरद्धार ४ :

इत्थासंसत्तसंकिळिहु अणो वि य उबमाइ अबगासा ते हु बजजिज्ञा ।

मिलाइए—दशबैकालिक, ८।५१,५२ ।

४—बही, संवरद्धार ४ :

जारीजगत्स मज्जे य कहियब्बा कहा ।

मिलाइए—दशबैकालिक, ८।५२ ।

५—बही, संवरद्धार ४ :

जारीजं हसिय नणियं य बक्षुता य मणसा बयसा पत्थेयब्बाइ ।

मिलाइए—दशबैकालिक, ८।५३,५४,५७ ।

४—पूर्व-भृत्य-भोग की स्मृति का वर्जन ^१	४—अतिभाव और प्रणीत पान-भोजन का वर्जन
५—प्रणीत-रस-भोजन का वर्जन ^२	५—स्त्री आवि से संसक्त शव्यासन का वर्जन ^३

५—अपरिग्रह महाव्रत की भावनाएँ

१—मनोज और अमनोज शब्द में समभाव	१—मनोज और अमनोज शब्द, में समभाव
२— " " " रूप " "	२— " " " रूप " "
३— " " " गन्ध " "	३— " " " गन्ध " "
४— " " " रस " "	४— " " " रस " "
५— " " " व्यर्षा " "	५— " " " व्यर्षा " "

भावनाओं की पूरी शब्दावलि की इशवेकालिक के माथ तुलना की जाए, तो इसका बहुत बड़ा भाग महाव्रतों की तुलना करते दिखाई देगा। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि दशवेकालिक पाँच महाव्रत और उनकी पचीस भावनाओं की व्याख्या है।

मंयमी जीवन की सुरक्षा का दृष्टिकोण :

शिव्य ने पूछा—“भगवन्। यह लोक छह प्रकार के जीव-निकायों से लबालब भरा हुआ है किंतु अहिंसा पूर्वक शरीर धारण करने हो सकता है? उसके लिए जाना, खड़ा होना, बैठना, खाना और बोलना—ये आवश्यक है। ये किए जाएं तो हिस्सा होनी है, इस स्थिति में श्रमण ब्याह करे? वह कैसे चले, खड़ा रहे, बैठे, सोए, खाए और बोले? यह प्रश्न अहिमा और जीवन-व्यवहार के मध्यरें का है। समय दशवेकालिक में इसी का समाधान है। मंथेष में शिव्य को बताया गया कि यतनापूर्वक चलन, खड़ा रहने, बैठने, सोने, खाने और बोलने वाला अहिमक रह सकता है। यतना करने की जाए, इसकी व्याख्या ही दशवेकालिक का विस्तार है। यह सत्प्रवृत्ति और निवृत्ति के मंयम का दृष्टिकोण है। अत्यस्य होने के लिए निवृत्ति, उसकी प्राप्ति में आने

१—प्रसन्नव्याकरण, संवरद्धार ४ :

पुष्परप्य पुष्पकीस्त्रिय विरह समिह जोगेण माविदो मवह अंतरप्पा ।

२—वही, संवरद्धार ४ :

आहारपणीयसिद्धमोयणविवरणे ।

मिलाहए—दशवेकालिक, ८।५६।

३—आवारांग, २।३।१५ ।

बाली बाष्ठाओं को पार करने और केवल उसी के निमित्त शरीर-धारण करने के लिए सत्प्रवृत्ति आवश्यक है—यह जैन दर्शन का धार्मिक दृष्टिकोण है। इसके अनुसार हिंसा मात्र, भले फिर वह प्रयोजनवश की जाए या निष्प्रयोजन ही—असत्प्रवृत्ति है। धार्मिक दृष्टिकोण से वह सर्वथा अमात्य है। इसीलिए साधना की विदेश भूमिका में निवृत्ति और सत्प्रवृत्ति ही मात्य हृष्ट है। सत्प्रवृत्ति के द्वारा निवृत्ति के चरम शिखर पर पहुँचने के लिए शरीर-धारण आवश्यक है, इसलिए सत्प्रवृत्तिमय (संयममय) शरीर-धारण के लिए भी इसमें पर्याप्त विधि-नियंत्रण किए गए हैं।

प्रवचन-गौरव का दृष्टिकोण :

भगवान् महाबीर ने केवली होने के अनन्तर तीर्थ का प्रवत्तन किया। उसके चार अंग बने—माधु, माध्वी, श्रावक और श्राविका। वर्णत्तिक साधना में लोक-व्यवहार की दृष्टि से विचार करना आवश्यक नहीं होता। संघ की स्थिति इसमें भिन्न होती है। वहाँ लोक-दृष्टि की सर्वथा उपेक्षा नहीं होती। इसलिए धर्म-विश्व आचरण की भौति लोक-विश्व आचरण भी किसी सीमा तक निषिद्ध माना गया है।^१ प्रतिक्रुट कुल से भिक्षा लेने के नियंत्रण का कारण संघ की लघुता न हो, यही है।^२

इस प्रकार के और भी जनेक नियम है, जिनके निर्माण का मूल लोक-दृष्टि की सापेक्षता है। जहाँ तक साधना की मोलिकता का प्रश्न है, वहाँ लोक-दृष्टि को मझन्व नहीं दिया जा सकता किन्तु जहाँ मर्य की धौत नहीं हो, वहाँ लोकमत की सर्वथा उपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। ऋगम-काल से लेकर व्याघ्या-काल तक जैन-परमारण का यह स्पष्ट अभिमत रहा है।

१—प्रश्नमरति प्रकरण १३१, १३२ :

लोकः सत्त्वाधारः सर्वेषां ब्रह्मचारिणां यस्मान् ।

तस्मात्लोकविश्वदं धर्मविश्वदं च संत्याज्यन् ॥

देहो न साधनको लोकाधीनानि साधनान्यस्य ।

सद्धर्मानुपरोधाद् तस्मात्लोकोऽभिगमनीयः ॥

मिलाइए। वज्रेष्वालिक, ५।१।१८ ।

२—हारिमदीय दीक्षा, पत्र १६६ :

प्रतिकृष्टकुलं द्विविधम्-इत्वरं यावत्क्षिप्तं च । इत्वरं—सूतकपुस्तं,

यावत्क्षिप्तम्—अभोक्यन् । एतम् प्रविशेष शासनलक्षुत्क्रप्रसंगात् ।

परीषह-सहन का दृष्टिकोण :

साधना के क्षेत्र में काय-कलेश बहुत ही विवादाप्पद रहा है। कही इसका ऐकान्तिक समर्थन मिलता है, कही इसके संयत-प्रयोग का समर्थन मिलता है तो कही इसका अनावश्यक विरोध भी मिलता है। भागवत और मनुस्मृति में वानप्रस्थ और मन्यासी के लिए जिस आचार का विवाद किया है, उसमें जितना आश्रह कोरे कट-सहन का है, उनना अहिंसा का नहीं है। वानप्रस्थ की ऋतुचर्चाका उल्लेख करते हुए कहा गया है—“वह ग्रीष्म-ऋतु में पंचायि नये, वर्षा ऋतु में खुले मैदान में रह कर वर्षा की बौद्धार महे, जाडे के दिनों में गले तक जल में डूबा रहे। इस प्रकार घोर नपम्यामय जीवन व्यनीत करे।”^१ जैन-परम्परा अहिंसा-प्रवान रही, इमलिंग वहाँ प्रमण की ऋतुचर्चाका इन शब्दों में वर्णन किया गया है—“सुममाहिन निग्रन्य ग्रीष्म में सूर्य की आतपना लेते है, हेमन्त में खुले वदन रहते है और वर्षा में प्रनिसंलीन—एक स्थान में रहने वाले होते है।”^२ जैन-परम्परा ने मुख्वाद का व्यण्डन किया और अहिंसा का आश्रह रखने हुए यथाशक्ति कट-सहन का समर्थन किया। “मुख में मूख मिलता है”—इस मान्यता के अनुसार चलने वाले अहिंसा का आश्रह नहीं रख सकते। वे थोड़ी-सी बाधा होने पर कठना जाते हैं।^३ ‘आत्म-हित दुख में मिलता है’^४ इसका नात्यर्थ यह नहीं कि कट-महन से आत्म-हित होता है, किन्तु यहाँ बताया गया है कि आत्म-हित कट-माध्य है। कट-सहन आत्म-हित का एक माध्यन ह और इमलिंग कि अहिंसा की माध्यना करने वाला कट आ पड़ने पर उसमें विचकित न हो जाए।” अब कहा गया है कि परीषह में

(क) भागवत, ११।१८।४

प्रीजे तप्येत पंचाद्वीन्, वर्षास्वासारवाढ् जले ।

आकण्ठमनः शिशिरे, एवं वृत्तस्तपश्चरेत् ॥

(ल) मनुस्मृति, ६।२३ :

प्रीजे पंचाद्वितापः स्याद्, वर्षास्वभावकाशिक ।

आद्वासास्तु हेमते, क्रमसो वर्धयांस्तपः ॥

२—दशबैकालिक, ३।१२।

३—सूत्रकृतांग, १।३।४।६-८ :

इहमेगे उ मासंति मेहूणे य परिलाहे ।

४—बही, १।२।२।३० ।

अतहियं लु दुहेण लमड़ ।

५—बही, १।२।१।१४ :

अविहिंसामेवव्याए, अशुधम्मो मुणिणा पवेवितो ॥

मृष्ट होने पर मुनि उनसे पराजित न हो—अनाचार का सेवन न करे।^१ साधना में चलते-चलते जो कष्ट आ पड़ते हैं, उन्हें सम्यक्-भाव में सहन करने वाले को निर्जरा (कर्मधय) होती है।^२

मांस और रक्त के उपचय से मैथुन संज्ञा उत्पन्न होती है।^३ इसलिए कहा है कि अनदान के द्वारा शरीर को कृज करो।^४ शरीर के प्रति जिनका अत्यन्त वैराग्य हो जाता है, जो पोद्गलिक पदार्थों को आत्मा में मर्वथा पृथक् करने के लिए चल पड़ते हैं, वे तपस्वी विशुद्ध तपस्या के द्वारा मंचित कर्म-मल को धो डालते हैं।^५

कट्ट-महन जैन-परम्परा का वैश्य नहीं रहा है। वह केवल माधन रूप से वैकृत है।^६ जैन-परम्परा में तप का अर्थ कोरा कट्ट-महन करना नहीं है। आत्म-शुद्धि के दो माधन हैं मंवर और तप। मंवर के द्वारा आगामी कर्म का निरोध और तप के द्वारा पूर्व-मंचित कर्म का धय होता है।^७ भगवान् महावीर ने कर्म-धय के ममलन नाथों को तप कहा है और उन्हें बात्या और आप्यन्तर—इन दो भागों में बर्ता है। वे ही नो अधिक कष्ट देने से अधिक कर्म-धय होता है—ऐसा अभिमत नहीं है।

१—उत्तराध्ययन, २१४६ :

(क) एए परिसहा सखे, कासवेण पवेह्या ।
जे मिक्षू न विहन्नेऽज्ञा, पुटो केणइ कण्ठुई ॥

(ख) सूत्रकृतांग, ११२।१।१३ :
से पुटो अहियासए ।

२—स्थानांग, ४।१।४०९ :

सम्म सहमाणस्त जाव अहियासेमाणस्त कि मने कञ्जति ? एगंतसो मे गिक्करा कञ्जति ।

३—स्थानांग, ४।४।३५६ ।

४—सूत्रकृतांग, १।२।१।१४ वृत्ति :

किसए वैहमणासणाइर्हिं—अनशनाविभिर्वेहं ‘कर्शयेन’—अपचित्तमासशोणितं विद्ययात् ।

५—सूत्रकृतांग, १।२।१।१५ ।

६—जसद्वाए कीरति नवामावे……अंतं करेति ।

७—उत्तराध्ययन, ३०।१-६ ।

गौतम ने पूछा—“भगवन् ! (१) महावेदना और महानिर्जरा, (२) महावेदना और अल्पनिर्जरा, (३) अल्पवेदना और महानिर्जर्ग, (४) अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा—कथा ये विकल्प हो सकते हैं ?”

भगवान् ने कहा—“हाँ गौतम ! हो सकते हैं ।”

यहाँ दो विकल्प—दूसरा और तीसरा—व्यान देने योग्य हैं।

भगवान् ने अनशन, काय-कंकेश आदि को बाह्य-ता और स्वाधार्थ, धारण आदि को आभ्यन्तर-तप कहा है।^१ वे आत्मिक पवित्रता के लिए जसे आभ्यन्तर-तप को आवश्यक मानते थे, वसं ही इन्द्रिय और मन को समाहित रखने के लिए बाह्य-तप को भी आवश्यक मानते थे।

भगवान् ने छह कारणों में आहार करने की अनुमति दी, वेंस ही छह कारणों में आहार न करने की आज्ञा दी।³

इम विचारधारा में संयन्त काय-क्लेश और ध्यान दोनों का समन्वय है, इमलिए यह नप और ध्यान के ऐकानिक आश्रग्रह के बीच का मार्ग है—मध्यम मार्ग है।

भगवान् ने अहिंसा का विवेक किये बिना तप तपने वालों को इहलोक-प्रत्यनीक (वर्तमान जीवन का शत्रु) कहा है।"

१—मगधती, ६।२।

२-उत्तराध्ययन, ३०१७, ८, ३० ।

३—वही, २६। ३१-३४ :

छम्हं अनन्यरागं मि कारणं मि समुद्दिष्टे ॥

वेयणवेयावच्चे इरियट्टाए य संजमट्टाए ।

तह पाणवत्तियाए छुट्टे पुण धम्मचिन्ताए ॥

निमांयो धिद्वन्तो निमांयी यि न करेण छुहि चेब ।

ठाणेहि त दुमेहि अण्डकमणा य से होइ।

आयके उवस्मो तितिक्षया बमचेरहस्यास

पाणिदया तबहेउं सरीरबोच्छेयणद्वाए

४—दशवैकालिक, ८।६३ :

सञ्जकायसञ्जकाणरयस्स ताइणो अपावभावस्स तडे रयस्स।

बिसउमहु जं सि मलं पुरेकडं समीरियं हृष्मलं व जोडणा ॥

५—मगवती, दाद वत्ति :

इहलेगपतिणीए—इह लोकस्य प्रत्यक्षस्य मानुषत्वलक्षणपर्याप्तिस्य प्रत्यनीक
इन्द्रियार्थप्रतिकल्पारित्वात् पंचाइमित्पत्तिविह लोकप्रत्यक्षिः।

भगवान् की दृष्टि में बाह्य-तप की अपेक्षा मानसिक आज्ञव अधिक महत्वपूर्ण था। उन्होंने कहा—“कोई तपस्वी नम रहता है, शरीर को कृषा करता है और एक महीने के बाद भोजन करता है किन्तु मायावार को नहीं त्यागता, वह अन्त-काल तक संसार से मुक्ति नहीं पाता।”^१

भगवान् ने चमत्कार-प्रदर्शन और पौद्यगलिक सुख की प्राप्ति के उद्देश्य से किए जाने वाले तप का विरोध किया। उनका यह आश्रह था कि तप केवल आत्म-शुद्धि के उद्देश्य से ही किया जाय।^२

“नियन्त्र का आचार भीम है, अन्यत्र ऐसे परम दुश्चर आचार का प्रतिपादन नहीं है”^३—यह जो कहा है, उसके पीछे कठोर चर्चा की दृष्टि नहीं है। इसे अहिंसा की सूक्ष्म-दृष्टि से परम दुश्चर कहा है। समूचा छठा अध्ययन इसी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने वाला है। मूलकृतांग (१११५) में अहिंसात्मक मार्ग को महाघोर कहा है।

गीता में श्रद्धापूर्वक, फल की आकर्षका से रहित किए गए तप को सात्त्विक, सत्कार आदि के उद्देश्य और दम्भ में किए गए तप को राजस तथा दूसरे का विनाश करने के लिए अविवेकपूर्ण निश्चय से शरीर को पीड़ा पहुँचाकर किए गए तप को तामस कहा है।^४

महात्मा गौतम बुद्ध ने काय-क्लेश को अनाबश्यक बतलाया। उन्होंने कहा—‘साधु को यह दो अतियों सेवन नहीं करनी चाहिए। कौनसी दो ? (१) जो यह हीन, ग्राम्य, अनाडी मनुष्यों के (योग्य), अनार्य (-सेवित) अनर्थों से युक्त, कामबासनाओं में लिम होना है, और , (२) जो दुख (-मय), अनार्य (-सेवित) अनर्थों से युक्त आत्म-पीड़ा में लगाना है। भिन्नाऊं। इन दोनों ही अतियों में न जाकर, तथाशत ने मध्यम-मार्ग खोज निकाला है, (ओकि) आँख-देनेवाला, ज्ञान-करानेवाला, शान्ति के लिए, अभिज्ञा के लिए, परिपूर्ण-ज्ञान के लिए और निर्वाण के लिए है।’^५

१—सूक्ष्मतांग, १२११९ ।

२—दशवेकालिक, १४४ सू० ६ ।

३—बही, ६१४ ।

४—गीता, १७।१७-१९ :

अद्यया परया तत्त्वं तपस्तत्रिविदं नदेः ।

अफलाकां किमिर्युदैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन जैव यत् ।

किमते तविह प्रोक्तं राजसं चलनप्रब्रह्म ॥

मृदग्राहेजात्मनो यत् पीडया किमते तपः ।

परस्पोत्सावनार्थं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥

५—विग्य-पिटक, पृष्ठ ८०-८१ ।

महात्मा बुद्ध ने काय-स्लेश का विरोध किया पर वह मात्रा-मेद से साधना के लिए में आवश्यक होता है, इसलिए उसका पूर्ण बहिकार भी नहीं कर सके। काश्यप के प्रश्न का उत्तर देते हुए महात्मा बुद्ध ने कहा—“काश्यप ! जो लोग ऐसा कहते हैं—‘श्रमण गौतम सभी तपश्चरणों की निन्दा करता है, सभी तपश्चरणों की कठोरता को बिल्कुल बुरा बतलाना है’—ऐसा कहने वाले मेरे बारे में ठीक से कहने वाले नहीं हैं, मेरी भूठी निन्दा करते हैं। काश्यप ! मैं विशृद्ध और अलौकिक दिव्य-बङ्ग से किन्हीं-किन्हीं कठोर जीवन वाले तपस्त्रियों को काया छोड़ मरने के बाद नरक में उत्पन्न और दुर्गति को प्राप्त देखता हूँ। काश्यप ! मैं किन्हीं-किन्हीं कठोर जीवन वाले तपस्त्रियों को मरने के बाद म्बर्गलोक में उत्पन्न और सुगति को प्राप्त देखता हूँ। किन्हीं-किन्हीं कम कठोर जीवन वाले तपस्त्रियों को मरने के बाद नरक में उत्पन्न और दुर्गति को प्राप्त देखता हूँ। काश्यप ! किन्हीं-किन्हीं कम कठोर जीवन वाले तपस्त्रियों को मरने के बाद म्बर्गलोक में उत्पन्न सुगति को प्राप्त देखता हूँ।

“जब मैं काश्यप ! इन तपस्त्रियों की इस प्रकार की अवगति, गति, चयुति (=मृत्यु) और उत्पत्ति को ठीक से जानता हूँ फिर मैं कैसे सब तपश्चरणों की निन्दा करूँगा ? सभी कठोर जीवन वाले तपस्त्रियों की बिल्कुल निन्दा, शिकायत करूँगा ?”^१

माध्य की प्राप्ति के लिए महात्मा बुद्ध ने जो सम्यक् व्यायाम का निरूपण किया है, वह कठोर चर्या का ज्वलंत स्थूल है।

“ओर भिक्षुओ, अनुरक्षण-प्रयत्न क्या है ? एक भिक्षु प्रयत्न करता है, जोर लगाता है, मन को काढ़ में रखता है कि जो अच्छी बाँतें उम (के चरित्र) में आ गई हैं वे नष्ट न हों, उत्तरोन्तर बढ़ें, विगुलता को प्राप्त हों। वह समाधि निमित्तों की रक्षा करता है। भिक्षुओ, इसे अनुरक्षण-प्रयत्न कहते हैं।

“(वह सोचता है)— चाहे मेरा मांस-रक्त सब सूख जाये और बाकी यह जायें केवल त्वक्, नसें और हड्डियाँ, जब तक उमे जो किसी भी मनुष्य के प्रयत्न से, शक्ति से पराक्रम से प्राप्त है, प्राप्त नहीं कर लूँगा, तब तक चेन नहीं लूँगा। भिक्षुओ, इसे सम्यक्-प्रयत्न (व्यायाम) कहते हैं।”^२

परीषह-सहन का जो दृष्टिकोण भगवान् महावीर का रहा है, उसे महात्मा बुद्ध ने स्वीकार नहीं किया, यह नहीं कहा जा सकता। उन्होंने कहा है :

१—बीच-निकाय, पृष्ठ ६१।

२—बुद्ध-बचन, पृष्ठ ३७।

"भिशुओ, जिसने कायानुसूति का अभ्यास किया है, उसे बढ़ाया है, उस भिशु को दस लाभ होने चाहिए। कौन से दस ?

१—वह अरति-रति-सह (=उदासी के सामने डटा रहने वाला) होता है। उसे उदासी परास्त नहीं कर सकती। वह उत्पन्न उदासी को परास्त कर विहरता है।

२—वह भय-भैरव-सह होता है। उसे भय-भैरव परास्त नहीं कर सकता। वह उत्पन्न भय-भैरव को परास्त कर विहरता है।

३—शीत, उण्ठ, भूख-प्यास, डंक मानने वाले जीव, मच्छर, हवा, घूम, रोगनेवाले जीवों के आधात, दुरुक्त, दुरागत वचनों, तथा दुखदायी, तीव्र, कठु, प्रतिकूल, अशुचिकर, प्राण-हर शारीरिक पीड़ाओं को सह सकने वाला होता है।"^१

भगवान् महावीर अज्ञान-कष्ट का विरोध और मर्यम-पूर्वक कष्ट-सहन का समर्थन करते हैं। इन दोनों के पीछे हिसा और अहिसा की दृष्टियाँ हैं, इसलिए इनमें कोई असंगति नहीं है। महात्मा बुद्ध भी कष्ट-सहन का विरोध और समर्थन दोनों करते हैं किन्तु उनके पीछे हिसा और अहिसा के स्थिर दृष्टिकोण नहीं है, इसलिए उनके विरोध और समर्थन का आशारभूत कारण नहीं मिलता। दीघनिकाय (५०६२-६३) में जिन नियमों को झटा शारीरिक तप कहा गया है, उनमें बहुत कुछ ऐसे नियम हैं जिनका निर्माण अहिसा और अपरिग्रह के सूक्ष्म चिन्तन के बाद हुआ है। नम रहना, बुलाई भिक्षा का का त्याग^२, अपने लिए लाई भिक्षा का त्याग^३, अपने लिए पकाए भोजन का त्याग^४ निर्मन का त्याग, दो भोजन करने वालों के बीच से लाई भिक्षा का त्याग^५, गर्भिणी स्त्री द्वारा लाई भिक्षा का त्याग^६, दूष पिलाती स्त्री द्वारा लाई भिक्षा का त्याग^७, वहों से भी नहीं (लिना) जहाँ कोई कुत्ता खड़ा हो^८, न मांस, न मछली,^९ न मुरा^{१०}, न कञ्ची

१—बुद्ध-वचन, पृष्ठ ४१।

२—मिलाइए—वशवैकास्तिक, ६।४८,४९।

३— " बही, ६।४९।

४— " " ६।४८,४९।

५— " " ५।१।३७।

६— " " ५।१।३९,४०,४१।

७— " " ५।१।४२,४३।

८— " " ५।१।१२,२२।

९— " " बूलिका २।७।

१०— " " ५।२।३६।

शराब, न चावल की शराब (=तुयोदक) यहण करता है। वह एक ही घर से जो भिक्षा मिलती है लेकर लौट जाता, एक ही कौर खाने वाला होता है, दो घर से जो भिक्षा०, दो ही कौर खाने वाला, सात घर० सात कौर०। वह एक ही कलंची खाकर रहता है, दो दो दिन०, सात सात दिन०। इस तरह वह आधे-आधे महीने पर भोजन करते हुए विहार करता है।^१

जैन-परम्परा में ये नियम अहिंसा व अपरिग्रह की सूक्ष्म दृष्टि से ही स्वीकृत है।

तीसरे अध्ययन में कुछ शारीरिक परिक्रमों को अनाचार कहा है। उसके पीछे भी अहिंसा, लङ्घाचर्य, अपरिग्रह और देहासर्कि के दृष्टिकोण है। ये उस समय की सभी अमरण और लङ्घाचर्य परम्पराओं में न्यूनाधिक मात्रा में स्वीकृत रहे हैं।

स्नान महात्मा बुद्ध ने आध-मास में पहले नहाने वाले भिक्षु को प्राय शिवित का भागी कहा है। “जो कोई भिक्षु सिवाय विशेष अवस्था के आध-मास में पहले नहाये तो पाचिनिय है। विशेष अवस्था यह है—ग्रीष्म के पीछे के डेह मास और वर्षा का प्रथम मास, यह डाई मास और गर्मी का समय, जलन होने का समय, रोग का समय, काम (=लीपने पोतने आदि का समय), रास्ता चलने के समय तथा अँधी-पानी का समय।”^२

भगवान् महाबीर ने संघ की आचार-व्यवस्था को निर्यति किया, महात्मा बुद्ध ने बैसा नहीं किया। कलम्बरूप संघ के भिक्षु मनवाहा करते और लोगों में उनका अपवाद होता तब बुद्ध को भाँति-भाँति के नियम बनाने पड़ते। म्लान के सम्बन्ध में ऐसे कई नियम हैं।

उस समय बुद्ध भगवान् राजग्य में विहार करते थे। उस समय षड्वर्गीय भिक्षु नहाते हुए बृक्ष से शरीर को रगड़ते थे, जंघा को, बाहु को, छाती को, पेट को भी। लोग खिल होते, खिकारते थे—‘कैसे यह शाक्य-नुवीय अमरण नहाते हुए बृक्ष से०’, जैसे कि मल्ल (=पहलवान) और मालिश करने वाले।। भगवान् ने भिक्षुओं को संबोधित किया—“भिक्षुओं। नहाते हुए भिक्षु को बृक्ष से शरीर न रगड़ना चाहिए, जो रगड़े उसको ‘दुर्भृत’ की आपत्ति है।”

उस समय षड्वर्गीय भिक्षु नहाते समय खम्भे से शरीर को भी रगड़ते थे०। बुद्ध ने कहा—“भिक्षुओं। नहाते समय भिक्षु को खम्भे से शरीर को न रगड़ना चाहिए, जो रगड़े उसको दुर्कट (दुर्भृत) की आपत्ति है।”^३

१—सीध-निकाय, पृष्ठ ६२-६३।

२—विनय-पिटक, पृष्ठ २७।

३,४—वही, पृष्ठ ४१८।

छाता, जूता जो भिशुणी नोरोग होते हुए छाते-जूते को धारण करे, उसे बुढ़ ने पाचित्तिय कहा है।^१ जूते, लडाके और पायुकाबो के विविध विधि-निषेधों के लिए विनय-पिटक (पृष्ठ २०४-२०८) द्रष्टव्य है।

भगवान् महावीर ने सामान्यत जूते पहनने का निषेध किया और स्थविर के लिए जर्मं के प्रयोग की अनुमति दी, वैसे ही महात्मा बुद्ध जूता पहने गाँव में जाने का निषेध और विभान दोनों करते हैं।

उम समय यड्कीर्णीय भिशु जूता पहने गाँव में प्रवेश करते थे। लोग हैरान…… होते थे(०) जैसे काम-भोगी गृहस्थ। बुद्ध ने यह बात कही—“भिशुओ! जूता पहने गाँव में प्रवेश नहीं करना चाहिए। जो प्रवेश करे, उसे दुक्ट का दोष हो।”^२

उम समय एक भिशु बीमार था और वह जूता पहने बिना गाँव में प्रवेश करने में असमर्थ था। बुद्ध ने यह बात कही—“भिशुओ! अनुमति देता हूँ बीमार भिशु को जूता पहन कर गाँव में प्रवेश करने की।”^३

जैन-परम्परा की भाँति बौद्ध-परम्परा में भी छाते का निषेध और विभान—दोनों मिलते हैं।^४

गन्ध, माल्य आदि महात्मा बुद्ध माला, गंध, बिलेपन, उबटन तथा सजने-बजने में विरत रहते थे।^५

स्मृतिकार, पुराणकार और धर्मसूत्रकार ऋष्णचारों के लिए गंध, माल्य, उबटन, अंजन, जूते और छात-धारण का निषेध करते हैं।^६

भागवत में वानप्रस्थ के लिए दातुन करने का निषेध किया गया है।^७

१—विनय-पिटक, पृष्ठ ५७।

२, ३—बही, पृष्ठ २११।

४—बही, पृष्ठ ४३८।

५—दीघ-निकाय, पृष्ठ ३।

६—(क) मनुस्मृति, २।१७७-१७९।

(ख) भागवत, ७।१२।१२:

अभनाभ्यञ्जनोर्मवस्पत्स्तेषामिवं मधु ।

त्वमान्वतेषालंकारास्त्वज्जुर्ये धृतवत्तः ॥

७—भागवत, १।१।१८।३:

केशरोमन्तरामयुश्लालि दिव्यावतः ।

न वावेष्यु यज्ञेत, त्रिकालं स्यजिलेत्तमः ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रमण या संन्यासी के लिए कष्ट-सहन और शरीर-परिकर्म के त्याग की पद्धति लगभग सभी परम्पराओं में रही है। ब्राह्मण-परम्परा ने सारंगिक शृदि को प्रमुख स्थान दिया है। जैन-परम्परा ने उसे प्रमुखता नहीं दी। अहिंसा और देह-निर्ममत्व की दृष्टि से शरीर-शृदि को प्रमुखता न देना कोई बुरी बात नहीं है। साधना की भूमिका का विकास शरीर-शृदि से नहीं किन्तु चारित्रिक निर्मलता से होता है। अणु आभा वैज्ञानिक डॉ० जे०सी० ट्रस्ट ने इस विषय का बड़े वैज्ञानिक ढंग से सर्वों किया है। वे लिखती हैं—“कई बार मुझे यह देखकर आश्चर्य होता था कि अनेक अशिक्षित लोगों के अणुओं में प्रकाश-रसायन विद्यमान थे। साधारणत लोग उन्हीं को सच्चरित्र तथा धर्मात्मा मानते हैं, जो ऊँचे घरानों में जन्म लेते हैं, गरीबों में धन आदि बाँटते हैं तथा प्रात्-सायं उपासनादि नियत-कर्म करते हैं परन्तु मुझे बहुत से ऐसे लोग मिले हैं जो देखने पर बड़े धर्मात्मा और स्वच्छ वस्त्रधारी थे परन्तु उनके अन्दर काले अणुओं का बाहुल्य था। इसके विपरीत कितने ही ऐसे अपढ़, गेंवार नथा बाह्य रूप से भद्रे प्रतीत होने वाले लोग भी देखने को मिले, जिन्हे किसी प्रकार कुलीन नहीं कहा जा सकता। परन्तु उस समय मेरे आश्चर्य की कोई सीमा नहीं रही जब मैंने उनके प्रकाशाणुओं की थर्यरियों को उनकी आभा में स्पृष्ट रूप से देखा। आश्चर्य का कारण यह था कि प्रकाशाणुओं का विकास कई वर्ष के सतत परिश्रम और इन्द्रियों के अणुओं के नियंत्रण के पश्चात् हो पाना है, परन्तु इन लोगों ने अनजाने ही प्रकाशाणुओं को प्राप्त कर लिया था। उन्होंने कभी स्वप्न में भी प्रकाशाणुओं के विकास के विषयों में न सोचा होगा। उर्ध्वकृत घटनाओं के वर्णन में मैं आपको यह बताना चाहती हूँ कि यह आवश्यक नहीं कि शिक्षित तथा कुलीन प्रतीत होने वाले लोग धर्मात्मा हों और अशिक्षित तथा निर्वन और बाह्य रूप से अस्वच्छ रहने वाले पापी। बास्तव में प्रकाश का मम्बन्ध शरीर से नहीं अपितु आत्मा से है, अत प्रकाश की प्राप्ति के लिए शरीर की शृदि को इतनी आवश्यकता नहीं, जितनी आत्मा की निर्मलता की। बाह्य शरीर तो आत्मा के निवास के लिए भवन के समान है।”¹¹

आयुर्वेद में स्वस्थ वृत्त के जो आवश्यक कृत्य बताएँ हैं, उन्हे आगमकार श्रमण के लिए अनाचार कहते हैं। यहाँ सहज प्रश्न उठता है कि स्वास्थ्य श्रमण के लिए भी अपेक्षित है किर आगमकार ने इन्हे अनाचार क्यों माना? यह ठीक है कि स्वास्थ्य से श्रमण मुक्त नहीं है किन्तु उसका मुख्य लक्ष्य है—आत्म-रक्षा। “अप्पाहु खलु सवयं रक्षितयव्यो, सर्विदिएहि सुसमाहिएहि”—श्रमण सब इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त कर

आत्मा की रक्षा करे । आगमकार के साथने आत्म-रक्षा की हस्ति मुख्य थी । जबकि आयुर्वेद के सम्मुख देह-रक्षा का प्रश्न प्रमुख था, इसीलिए वहाँ कहा गया है कि—

नगरी नगरस्येव, रथस्येव रथी सदा ।

स्वशारीरस्य मेघावी, कृत्येववहितो भवेत् ॥१

—नगर रक्षक नगर के तथा गाडीवान् गाडी के कार्यों में (उसकी रक्षा के लिए) सदा साधारण रहता है, वेसे ही बुद्धिमान् मनुष्यों को चाहिए कि वे सदा अपने शरीर के कृत्यों में साधारण रहें ।

चरक के अनुसार स्वास्थ्य-रक्षा के लिए किए जाने वाले स्वस्थवृत्त के आवश्यक कृत्य ये हैं

मोदीरांजन—काला मुरमा आंजना ।

नम्य कर्म—नाक में तेल डालना ।

दन्त पवन—दनौन करना ।

जिह्वानिलेखन—शलाका से जीभ के मेल को खुरचकर निकालना ।

अस्यंग—तेल का मदन करना ।

शरीर-परिमार्जन—कपड़े या स्पन्डन आदि हारा मैल उतारने के लिए राफना अथवा उदटन लगाना, स्नान करना ।

गत्थमाल्य-निषेदण—चन्दन, केसर आदि मुग्धित द्रव्यों का अनुलेपन करना तथा मुग्धित पुष्पों की मालाओं को धारण करना ।

रक्षाभरण धारण—रक्ष-जटित आभूषण धारण करना ।

शौचाधान—पैर तथा भलभारों (नाक, कान, गृदा, उपस्थ आदि) को प्रतिदिन बार-बार धोना ।

मध्यसाधन—केश आदि कटवाना तथा कंधी करना ।

घूम्पान—घूम्पान करना ।

पादत्र-धारण—जूते धारण करना ।

छत्र-धारण—छत्ता धारण करना ।

दण्ड-धारण—दण्ड (छड़ी) धारण करना ।

इनमें से अधिकांश का अनाचार प्रकरण में और कुछेक का अन्यत्र निवेद मिलता है । इसका कारण है—आत्म-रक्षा । इन्द्रियों की समाधि और ऋद्धाचर्य के बिना आत्म-रक्षा हो नहीं पाती । उपर्युक्त कृत्य ऋद्धाचर्य और इन्द्रिय-समाधि में बाधक बनते हैं । स्वयं आयुर्वेद के ग्रन्थ-निर्माताओं की हस्ति में भी ये वृद्ध (बीयांवर्धक), पुस्त्व-

चरक और कामाग्रि-सन्दीपक हैं। स्नान को चरक संहिता में वृत्त्य कहा है ।^१—

पवित्रं वृद्यमायुष्यं, श्रमस्वेदमलापहम् ।

शरीर-बलसधानं, स्नानमोजस्कर परम् ॥

इसकी व्याख्या में मुश्तुत का श्लोक उद्भूत है, उसमें इसे पुस्त्व-वर्द्धन कहा है—

तन्द्रापापोपशमनं, तुष्टिदं पुस्त्ववर्द्धनम् ।

रन्तप्रसादनं चापि, स्नानमनेहच दीपनम् ॥

उसी प्रकरण में तन्त्रान्तर का श्लोक भी उद्भूत है। उसमें स्नान को कामाग्रि-सन्दीपन कहा है ।

प्रात् स्नानमलं च पापहरण दुस्वप्नविघ्वसनं,

शीतम्यायनं मलापहरणं मवधंनं तेजसाम् ।

स्पृष्टोतकरं शरीरसुखदं कामाग्रिसंदीपनं,

न्त्रीणां मन्मथगाहनं श्रमहरं स्नाने दशैते गुणा ॥

चरक संहिता के सूत्र-स्थान में गन्ध-माल्य-निरेवण (५।६३), संप्रसाधन (५।६६) और पादत्र-धारण (५।६७) को भी वृत्त्य कहा गया है।

इसी तरह और भी शरीर की सार-मंभाल के लिए किए जाने वाले कृत्य क्रहाचय में साधक नहीं बनते, इसलिए भगवान् महावीर ने इन्हें भी अनाचार माना है।

परीषह-सहन की इष्टि में भगवान् महावीर ने जो आचार-व्यवस्था वीकृत की, वह निर्णय-परम्परा में उनसे पहले भी रही है। बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्ति से पहले की अपनी कठोर-चर्या का जो वर्णन किया है^२, उसकी तुलना प्रमुत आगम के तीसरे अध्ययन में वर्णित आचार-व्यवस्था में होती है। इसके आधार पर यह माना जाता है कि महारथा बुद्ध ने भ० पाश्वनाथ की परम्परा स्वीकार की थी।^३ इससे यह सहज हो जाना जा सकता है कि भावी तीर्थकुरों की आचार-व्यवस्था में भी परीषह-सहन का स्थान होगा। इसका निरूपण भगवान् महावीर ने अपने प्रवचन में किया है। भगवान् ने कहा—

‘अज्जो ! यह मगधाचिपति श्रेणिक पहले नरक में निकल कर जब महापद्म नामक पहले तीर्थकुर होंगे, तब वे मेरे समान ही आचार-धर्म का निरूपण करेंगे।

‘अज्जो ! जैसे मैंने छह जीव-निकाय का निरूपण किया है, वैसे ही महापद्म भी छह जीव-निकाय का निरूपण करेंगे।

१—चरक, सूत्र-स्थान, अध्ययन ५।९२ ।

२—मणिकम-निकाय, महासीहनाबसुत, पृष्ठ ४८-५२ ।

३—पाश्वनाथ का चातुर्पाँच धर्म, पृष्ठ २४-२६ ।

“अज्जो ! जैसे मैंने पाँच महावतों का निरूपण किया है, वैसे ही महापद्म भी पाँच महावतों का निरूपण करेंगे।

“अज्जो ! जैसे मैंने श्रमण-निश्चयों के लिए नदीभाव, मण्ड-भाव, अम्नान—म्नान न करना, अदलवण—दलेन आदि न करना, अछुत—छुत धारण न करना, अनुपानालक—जूते न पहनना, भूमिशय्या, फलकशय्या, काष्ठ-शय्या, केज़-लोच, लझावर्य-वास, पर-गृह-प्रवेश, आदर या अनादर पूर्वक लब्ध भिक्षा का ग्रहण—इनका निरूपण किया है, वैसे ही महापद्म भी इनका निरूपण करेंगे।

“अज्जो ! जैसे मैंने आशाकर्मिक, औदेशिक, मिश्रजान्, अद्यवनर, क्रीत, प्रामित्य, आछुत, भनिमष्टु, अभिहृत काल्पनाग-भन्न, दुर्भिक्ष-भन्न, स्नान-भन्न, बाद्य-लिका-भन्न, प्राधूण-भन्न, मूल-भोजन, कल्द-भोजन, फल-भोजन, बौज-भोजन, हरित-भोजन—इनका प्रतिवेद किया है, वैसे ही महापद्म भी आशाकर्मिक यावत हरित-भोजन का प्रतिवेद करेंगे।

“अज्जो ! जैसे मैंने शय्या-पिण्ड और गज-पिण्ड का प्रतिवेद किया है, वैसे ही महापद्म भी इनका प्रतिवेद करेंगे।”^१

मूलभृतांग में परिज्ञानव्य-प्रत्याश्यानात्मक कर्मों की लम्बी नालिका है। जम्बू के प्रश्न पर मुधर्मा स्वामी ने भगवान् महावीर के धर्म का मर्म-मर्यादी वर्णन किया है। वहाँ बहुत सारे परिज्ञानव्य-कर्म ऐसे हैं, जो दशवेंकालिक के इस अध्ययन में नहीं है। प्रमुख अध्ययन के अनाचारों में जिनकी तुलना होती है, वे ये हैं

- (१) वस्तिकर्म, (२) विरेचन, (३) वमन, (४) अंजन, (५) गंध, (६) माल्य,
- (७) म्नान, (८) दृत-प्रश्नालन, (९) औदेशिक, (१०) क्रीत-कृत, (११) आहृत,
- (१२) कल्क-उद्वर्तन, (१३) सागारिक-पिण्ड, (शय्यातर-पिण्ड), (१४) अष्टापद,
- (१५) उपानत, (१६) छत्र, (१७) नालिका, (१८) बाल-बीजन, (१९) पर-अमत्र (गृहि-अमत्र), (२०) आसन्दी-पर्यंक, (२१) गृहान्तर-निष्ठा, (२२) मंप्रस्त्रन,
- (२३) स्मरण—आसुर-स्मरण और (२४) अलपानानुप्रदान—यहि वेयावृत्त्य।^२

आचाराङ्ग में भगवान् के साधना-काल का अत्यन्त प्रामाणिक विवरण है। वहाँ बताया गया है कि भगवान् गृहस्थ का वस्त्र नहीं पहनते थे, गृहस्थ के पात्र में खाते भी

१—स्वानांग, ११।३।६९३।

२—सूत्रभृतांग, ११।१२, १३ से १८, २०, २१, २३, २९।

नहीं थे^१ और वे संशोधन-विरेचन, वर्मन, ग्रामाभ्यंग, स्नान, संबाधन, मर्दन, दन्त-प्रक्षालन (दत्तौन के द्वारा दन्त-प्रक्षालन) नहीं करते थे।^२

सूत्रकृतांग में दन्त-प्रक्षालन, अजन, वर्मन, घूम और घूम-पान का निषेच मिलता है। वृत्तिकार ने इन्हे उत्तर गुण कहा है।^३ भगवान् महावीर के आचार-धर्म का आधार अहिंसा है और अनाचार का आधार हिंसा है। भगवान् ने हिंसा का सामान्य निषेच किया और हिंसा के उन प्रसंघों का भी निषेच किया, जिनका आसेवन उनके समकालीन अन्य अमण और परिवाजक करते थे।

महात्मा बुद्ध अपने लिए बनाया हुआ भोजन लेते थे, निमन्त्रण भी स्वीकार करते थे। वैदिक-संन्यासियों व सांख्य-परिवाजकों में कन्द-मूल-भोजन का बहुत प्रचलन था। भगवान् महावीर ने इन सबका निषेच किया। निषेच का हेतु है—हिंसा का परिहार। सांख्य व वैदिक संन्यासियों में शोच का प्राधान्य था। भगवान् ने विनय-आचार को प्रधान माना, इसलिए वे शोच को वह स्थान न दे सके, जो उन्होंने विनय का दिया। मनान के निषेच की पृष्ठभूमि में अहिंसा का विचार है।^४ अपरिग्रह की दृष्टि से उन्होंने शरीर-निरपेक्षता पर बल दिया। शरीर परिग्रह है।^५ उसकी साज-सज्जा आसक्ति उत्पन्न करती है, इसलिए उन्होंने उद्वर्तन, अभ्यग आदि का निषेच किया। कुछ निषेचों में ब्रह्मचर्य की मुरक्खा का दृष्टिकोण भी रहा है। शंख-लिखित ने प्रोपित-भर्तु का कुल-स्त्री के लिए कुछ निषेच बनाए हैं। वे हँडी के ममान हैं। उसके मतानुसार प्रेखा (दोला) नाड़व, विहार, चित्र-दर्शन, अंगराग, उद्यानयान, विवृतशयन, उत्कृष्ट पान तथा भोजन, कटुक-कीड़ा, धूम्र, गध, माल्य, अलकार, दंतधावन, अजन, आदर्शन, प्रसाधन आदि अम्बवतंत्र प्रोपित-भर्तु का कुल-स्त्री को नहीं करना चाहिए।^६

१—आचारांग, १।१।१।१९ :

ओ सेवह य परवर्त्य, परपाए वि से न सुंजित्वा ।

२—बही, १।१।४।२ :

संसोहणं च वर्मणं च गायवर्मणं च सिणाणं च ।

संबाहणं च न मे कर्पे दंतपक्षलालणं च परिम्नाय ॥

३—सूत्रकृतांग, २।१।१५, वृत्ति पत्र २९९ :

ओ दंतपक्षलालणेण बते पक्षलालेऽजा, ओ अंजणं, ओ वर्मणं, ओ घूमणे जो तं

परिभावितज्ञा—इह पूर्वोक्तमहावृत्तपालनार्थमनेनोत्तरयुजाः प्रतिपादन्ते ।

४—वेदो—दशवेंकालिक, ६।६०-६२ ।

५—स्पानांग, ३।१।१३८ :

तिविहे परिम्नहे प० तं—कम्पयरिम्नहे सरीरपरिम्नहे वा हिरमंडपसपरिम्नहे ।

६—हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पृष्ठ १५१ ।

निषेध-हेतुओं का स्थूल विभाग :

कीतकृत और सन्निधि का निषेध अपरिश्रद्ध की दृष्टि से है। संबाधन, दंत-प्रधावन, सप्रोत्स्थन, देह-प्रलोकन, छत्र, चेकितस्य, उपानत्, उद्वतनं, बमन, वस्तिकर्म, विरेचन, अंजन, दैतवण, अभ्यंग और विभूषा—इनका निषेध देह-निर्ममत्व और ब्रह्मचर्य की दृष्टि से है। ब्रह्मचर्य की मुरक्खता के लिए भगवान् ने जो प्रवचन किया, उससे इस तथ्य की पुष्टि होती है। जो भिसु ब्रह्मचर्य का आचरण करता है, उसके लिए अभ्यंग, अंग-प्रक्षालन, संबाधन, उपलेप, धूपन, शरीर-मण्डन, म्नान, दत-धावन आदि निषेध बतलाए हैं।^१

जैन-परम्परा में म्नान का निषेध दशवैकालिक (१६०-६२) के अनुसार अहिंसा की दृष्टि से है और प्रश्नव्याकरण^२ के उक्त संदर्भ के अनुसार ब्रह्मचर्य की दृष्टि से है। अष्टापद (चूूत) का निषेध कीड़ा-रहित मनोभाव से सम्बन्धित है भाजीव-वृत्तिता का निषेध एषणा-मुदि की दृष्टि से है। आनुर-म्भरण का निषेध इंद्रिय-विजय, ब्रह्मचर्य आदि कई दृष्टियों से है। ये सब निषेधों की गृह्णयन्नि अहिंसा है।

अगम्स्त्यसिह म्यविर ने औदेशिक आदि अनाचरणीयता के कारणों का उल्लेख किया है। उनमें जीव-वध, अधिकरण, विभूषा, उड़ाह-अपवाद, एषणा-घात, ब्रह्मचर्य-वाधा, गर्व, मूलार्थ-वाधा, अनिस्तंगता, पापानुमोदन आदि मुख्य हैं।^३

१—प्रश्नव्याकरण, चतुर्थ संबद्धार, सूत्र २७ :

जो सुहृं चरति बंबचेरं, इमं च रतिरागदोसमोहृष्यदृढणकरं किमभ्यपमाय-दोसपासत्यसीलकरणं अमंतराणाणि य तेलमज्जाणाणि य अमिक्षणं कवल-सीस-कर - चरण-वदण-भोकण-संबाहुन - गायकम्भ-परिमहापुलेचन-कुन्नवास-धूपण - सरीरपरिमंडण - बाउसिकहसिय-भणिय-नहुगीयवाइयनडनटकजल्लमल-पेच्छागवेलंबक जाणि य सिनारामाराणि य अन्नाणि य एकमादियाणि तवसंजमंबन्धेत्यातोपदातिपाइं अणुचरमाणेणं बंबचेरं बज्जेयव्याङं सव्यकालं, मावेयको मद्दइ य अंतरर्पा इमेहि तवनियमसीलणोगेहि निष्कालं, किं ते ? अष्टाचागवदं धावणसेयमलजलधारणं नूणवयेक्षलोए य खम-बम-अचेलग-कुपिकास-साधव-सीतोसिण-काहुसेज्जा-नूमिजिसेज्जा परवरपवेत-संबुद्धावलद्व-माणावमाण निंदण-दंसमस्तग-फास-नियम-तव-नुग-विक्षयमादिएहि जहा से विरलरकं होइ दंसचेरं। इमं च अवंमकेरविरमणपरिवरकाणदृप्याए पावयणं मगवया सुकहियं ।

२—चही, चतुर्थ संबद्धार ।

३—वेत्तो—इतिवैकालिक, (मा०२), पृष्ठ ४३-४६ ।

विनय का दृष्टिकोण :

विनय नप है और नप घर्म है, इसलिए धार्मिक को विनीत होना चाहिए—विनय करना चाहिए।^१ जिस मंघ मे आचार्य और दीक्षा-पर्याय मे बड़े श्रमणो के साथ विनम्र व्यवहार नही किया जाना, वह प्रवचन की भावना नही कर सकता। विनय कथाय-त्याग से उत्स्तल होता है। आचार्य से नीचे आसन पर बैठना, उनके पीछे चलना, चरण-स्पर्श करना और हाथ जोड़कर बन्दन करना (दश०६।२।१७) —यह सारा व्यावहारिक विनय है किन्तु जिसका कथाय प्रबल है, वह ऐसा नही कर सकता।

विनय का दूसरा रूप अनुशासन है। भगवान् महाबीर ने अनुशासन को माध्य-मिद्दि का बहुत बड़ा साधन माना है। यही कारण था कि उनके जेमा मुव्यवस्थित मंघ उनके किसी भी सम-सामयिक आचार्य का नही बना। उन्होंने कहा—“जो मुनि, बच्चे, दूढ़े, गतिक अथवा सम-वयस्क के हितानुशासन को सम्यक् भाव से स्वीकार नही करता और भूल को फिर न दोहराने का संकल्प नही करता, वह अपने साध्य की आग्रहना नही कर सकता। आचार्य का अनुशासन कौन-सी बड़ी बात है, हित का अनुशासन एक घटदासी दे, वह भी मानना चाहिए। (मूल्रहतांग १।१।४।७-८)

विनय का तीसरा रूप है अनाशातना—किसी भी रूप मे अवज्ञा न करना। इसमे छोटे-बड़े का कोई प्रवन नहा है। जो किसी एक मुनि की आशातना करता है, वह सबकी आशातना करता है। वह उस व्यक्ति की आशातना नही किन्तु ज्ञान आदि गुणो (जो उसमे, अपने मे और सब मे है) की आशातना करता है।^२

विनय का चौथा रूप है भक्ति। बड़ो के आने पर खड़ा होना, आसन देना, मामने जाना, पहुँचाने जाना आदि-आदि मेवा-कर्म भक्ति कहलाते है।

आनन्दिक भावना के मम्बन्ध को बहुमान कहा जाता है। यह विनय का पाँचवाँ प्रकार है।

वर्ण-संज्वलन का अर्थ है सद्भूत गुणो की प्रशंसा करना। यह विनय का छठा प्रकार है। गुण-सम्बर्धन की दृष्टि मे यह बहुत ही महत्वपूर्ण है। विनय के ये सभी प्रकार प्रस्तुत आगम मे यत्र-नत्र बिल्ले पढ़े हैं। नवे अध्ययन की रचना इन्ही के आधार पर हुई है।

१—प्रसन्नव्याकरण, संचरद्धार इः :

विणवो वि तवो, तवो वि धम्मो तम्हा विणवो पठंजियवो ।

२—द्वात्रिशद् द्वात्रिशिका, २६।९ :

एकस्याशासनात्यत्र, सर्ववामेव तत्पतः ।

अन्योन्यमनुविदा हि, तेतु लानावदो गुणाः ॥

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय ३

स्नानाद्वारा

१—जीवों का वर्गीकरण

अध्यात्म का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है। आत्मा को जानना, देखना और पाना यही उसका आदि, मध्य और अन्त है। जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है।^१ जो अध्यात्म को जानता है, वह बाह्य को जानता है और जो बाह्य को जानता है, वह अध्यात्म को जानता है।^२ इस सिद्धान्त की भाषा में यही तथ्य निहित है कि आत्मा को जाने बिना कोई अनात्मा को नहीं जान सकता और अनात्मा को जाने बिना कोई आत्मा को नहीं पा सकता। इन दोनों को जाने बिना कोई आत्मा को नहीं पा सकता। दशवेकालिकार ने इस सत्य का उद्घाटन इन शब्दों में किया है—

जो जीवे वि न याणाइ, अजीवे वि न याणई ।
 जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहिइ संजर्म ? ॥
 जो जीवे वि वियाणाइ, अजीवे वि वियाणई ।
 जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहिइ संजर्म ॥४॥२,१३

जैन-साहित्य में जीव-विज्ञान और अजीव-विज्ञान की बहुत विशद चर्चा है। दशवेकालिक का जीव विभाग उल्लंघन नहीं है, पर संभेप में उसकी रूप-रेखा का बोध कराया गया है।

जैन-दर्शन विश्व के समस्त जीवों को छह निकायों में वर्गीकृत करता है^३—
 १—पृथ्वीकायिक—खनिज जीव ।
 २—आकायिक—जल जीव ।
 ३—तेजस्कायिक—अग्नि जीव ।
 ४—वायुकायिक—वायु जीव ।
 ५—वनस्पतिकायिक—हरित जीव ।
 ६—ऋसकायिक—गतिशील जीव ।

१—आचारांग, १।३।४/१२३ :

जे एं जाग्रह, से सर्वं जाग्रह, जे सर्वं जाग्रह से एं जाग्रह ।

२—वही, १।१।७।५७ :

जे अस्तर्वं जाग्रह से वहिया जाग्रह, जे वहिया जाग्रह से अस्तर्वं जाग्रह ।

३—वशेकालिक, ४। सू० ३-९ ।

इनके अवान्तर प्रकारों का भी संबंधित उल्लेख मिलता है ।

१—गृष्णी—भिन्न, शिला, लेटु ।^१

२—अप्—ओस, हिम, महिका, करक (ओला), हरतनुक, शुद्ध-उदक ।^२

३—तेजम्—अंगार, मुरमुर, अर्चि, ज्वाला, अलात्, शुद्ध-अग्नि, उल्का ।^३

४—वायु—पंखे की हवा, पत्र की हवा, शाला की हवा, मोरपिंच्छी की हवा, वस्त्र की हवा, हाथ की हवा, मुँह की हवा ।^४

५—वनस्पति—अग्रबीज, पर्वबीज, स्कन्धबीज, बीजरुह, सम्मूच्छ्वम्, तृण-लता ।^५

६—त्रस—अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूच्छ्वम्, उद्भिज्ज, औपपातिक ।^६

प्रथम पाँच निकाय के जीव स्पावर होते हैं । उनका ज्ञान सर्वाधिक निम्न कोटि का होता है । अत वे इच्छापूर्वक आन्जा नहीं सकते । उन्हें केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय का ज्ञान प्राप्त होता है । अन वे सब एकेन्द्रिय होते हैं । ज्ञान के विकासक्रम की दृष्टि से जीवों का विभाजन इस प्रकार होता है

१—एकेन्द्रिय,

२—द्विन्द्रिय,

३—त्रीन्द्रिय,

४—चतुरन्द्रिय* और

५—पञ्चन्द्रिय—असंज्ञी पञ्चन्द्रिय—तियंच्च व सम्मूच्छ्वम्—मनुष्य, वाणव्यन्तर देव, भवनवासी देव, ज्योतिष्क देव और वैमानिक देव (कल्पोपपन, कल्पातीत, ग्रन्थेयक और अनुत्तर विमान के देव) ।

द्विन्द्रिय से लेकर पञ्चन्द्रिय तक के सभी जीव त्रस हैं । जिन प्राणियों में सामने

१—दशवेकालिक, ४। सू० १८ ।

२—वही, ४। सू० १९ ।

३—वही, ४। सू० २० ।

४—वही, ४। सू० २१ ।

५—वही, ४। सू० ८ ।

६—वही, ४। सू० ९ ।

७—इनमें उत्तरोत्तर ज्ञान विकसित होता है । दैलो दशवेकालिक (भा० २), पृ० १३५, पाद-टिप्पण ४ ।

जाना, पीछे हटना, संकुचित होना, फेलना, शब्द करना, इच्छ-उधर जाना, भय-वीत होना, दौड़ना—ये कियाएँ हैं और जो आवश्यक एवं गति के विज्ञाता हैं, वे अस कहलाते हैं। (४। सू० ६)

बाठवे अध्ययन (श्लोक १३-१६) में आठ सूक्ष्म बतलाए गए हैं : (१) स्नेह-सूक्ष्म—ओस आदि, (२) पुष्प-सूक्ष्म—बरगद आदि के फूल, (३) प्राण-सूक्ष्म—कुन्तु आदि सूक्ष्म जन्म, (४) उत्तिग सूक्ष्म—कीड़ीनमरा, (५) पनक-सूक्ष्म—पंच वर्ज वाली काई, (६) वीज-सूक्ष्म—सरतों आदि के मुँह पर होने वाली कणिका, (७) हरित-सूक्ष्म—तत्काल उत्पन्न अंकुर और (८) अण्ड-सूक्ष्म—मधुमक्खी, कीड़ी, मकड़ी, ब्राह्मणी और गिरगिट के अण्डे। *

अस जीव हमारे प्रत्यक्ष हैं। बनस्पति को भी जीव मानने में उतनी कठिनाई नहीं है जिननी शेष चार निकायों को मानने में है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु में जीव नहीं किन्तु ये स्वयं जीव हैं—यह धातुवादी बौद्धों और भूतवादी नैयायिकों को ही अमात्य नहीं किन्तु वर्तमान विज्ञान को भी अमात्य है। जैन-दर्शन के अनुसार सारा दृश्य-जगत् या तो मर्जीव है या जीव का परियन्त्र घरीर। इस विश्व में जितना कठोर द्रव्य है वह सब मर्जीव है। विरोधी शस्त्र से उपहत होने पर वह निर्जीव हो जाता है। इसका नात्पर्य है कि प्रारम्भ में सारी पृथ्वी सजीव होती है, फिर जल आदि विरोधी द्रव्यों के योग में वह निर्जीव हो जाती है। इस प्रकार पृथ्वी की दो अवस्थाएँ बनती हैं शस्त्र से अनुपहत—सजीव और शस्त्र से उपहत—निर्जीव।

इसी प्रकार जितना द्रव्य, जितना उष्ण, जितना स्वत त्रियं गतिशील और जितना चय-अपचयशील द्रव्य होता है, वह सब प्रारम्भ में सजीव ही होता है। इन छहों निकायों का विवरण इस प्रकार है :

जीवनिकाय	लक्षण	शस्त्र से अनुपहत	शस्त्र से उपहत
(१) पृथ्वी	कठोरता	मर्जीव	निर्जीव
(२) अप्	द्रवता	"	"
(३) तेजस्	उष्णता	"	"
(४) वायु	स्वत नियंग् गतिशीलता	"	"
(५) बनस्पति	चय-अपचयधर्मता	"	"
(६) अस	चय-अपचयधर्मता	"	"

इस प्रकार षट् जीवनिकाय का संक्षिप्त वर्णन इस आगम में मिलता है। (४। सू० ४-६)

१-वेसो—वशवेकालिक (भाग-२), पृ० ४२०-२१, श्लोक १५ के विषय।

२-संक्षिप्त व्याख्या

१. अहिंसा

अहिंसा और समता :

भगवान् महाबीर समता-धर्म के महान् प्रवर्तक थे। उन्होंने कहा—“मेरी बाणी में आत्मा रखने वाला भिन्न छहों निकायों को अपनी आत्मा के समान माने।”^१ इस आत्म-सम्म्य की भूमिका से उन्होंने अपने भिन्नओं को अनेक निर्देश दिए। आत्मोपम्य की कमोटी पर उन्हें कसा जाता है तो वे शत-प्रतिशत स्तरे उतरते हैं। निरे बुद्धिवादी दृष्टिकोण से देखने पर वे कुछ स्वाभाविक लगते हैं, कुछ अस्वाभाविक भी। किन्तु सम्म्य दृष्टिकोण होने पर वे अस्वाभाविक नहीं लगते। भगवान् के निर्देशों का सार इस प्रकार है

पृथ्वी-जगत् और अहिंसक निर्देश :

मुनि मजीब पृथ्वी को न कुरंदे और न उमका भेदन करे।^२ मजीब मिट्टी, धार, हरिताल, हिङ्गल, मैनशिल आदि से लिम हाय व कड़वी में भिक्षा न ले।^३ शृङ्खला-पृथ्वी और मिट्टी के रजकणों से भरे हुए आमत पर न बढ़े।^४ गात्र की उम्मा से पृथ्वी के जीवों की विराधना होती है, इसलिए शृङ्खला-पृथ्वी (शम्ब्र में अनुपहत पृथ्वी) पर नहीं बढ़ना चाहिए। उम्का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है—शृङ्खला-पृथ्वी पर नहीं बढ़ना चाहिए। जगत् नहीं बढ़ना चाहिए, दर्शकि शृङ्खला-पृथ्वी पर बढ़ने से उम्के निम्न भाग में गहे हुए जीवों की विराधना होती है।^५ खाने-दीने के अयोग्य बन्नु को निर्विव पृथ्वी पर डाले।^६ मल,

१—दशबैकालिक, १०१५।

२—बही, ४१३० १८ ; ४१४।

मिलाइए—अटाङ्गहृदय, सूत्र-स्थान, २१३६ :

नाकस्माद् विलिङ्गद् भुवम् ।

३—बही, ५११३३-३५।

४—बही, ४१५।

५—बही, (भाग २), कृष्ण ४१६, श्लोक ५ के टिप्पण।

६—बही, ५११८०-८१।

मूल, लेखमादि का उत्तरां भी अचित पृथ्वी पर करे।^१ पृथ्वी का सनन न करे।^२ पृथ्वी की किसी भी प्रकार से हिंसा न करे।^३

आपूर्काय (जल) :

आयुर्वेद साहित्य में जल के दो विभाग वर्णित हैं—(१) आन्तरिक और (२) बौद्ध।^४

आन्तरिक जल चार प्रकार का होता है :

- (१) धार— धार वर्ष वरसा हुआ जल ।
- (२) कार— ओले का जल ।
- (३) तृष्णार— तृष्णार-जल ।
- (४) हैम— हैम-जल ।

बौद्ध जल सात प्रकार का होता है :

- (१) कौप— कुण्ड का जल ।
- (२) नादेय— नदी का जल ।
- (३) सात्य— सरोवर का जल ।
- (४) ताडाग— तालाब का जल ।
- (५) प्राश्रवण— भरने का जल ।
- (६) औद्धिद— पृथ्वी फोड़ कर निकला हुआ जल ।
- (७) छोप्य— बिना बन्धे हुए कुएँ का जल ।

दशवैकालिक के कर्त्ता ने जल के मुख्य दो विभाग किए हैं—(१) उदक—भूमि-जल और (२) शुद्धोदक—आन्तरिक-जल । ओस, हिम, महिका, (तृष्णार), करक (ओले)—ये अन्तरिक्ष-जल के प्रकार हैं । हर्यनुक औद्धिद-जल—यह भूमि-जल का प्रकार है । कुण्ड आदि का पानी भी उदक शब्द के द्वारा संग्रहीत है । इस प्रकार जल का विभाग देसा ही है, जैसा आयुर्वेद-जगत् में सम्मत है ।

१—दशवैकालिक, दा१८ ।

२—बही, १०१२ ।

३—बही, ६१२६, २९ ।

४—सुधुत, सूत्र-स्थान, ४५१७ ।

अप-जगत् और अहिंसक निर्देश :

मुनि सजीव जल का स्पर्श न करे। सजीव जल से भीगे हुए वस्त्र या शरीर का न स्पर्श करे, न निचोड़े, न झटके, न मुखाएं और न तपाएं।^१ जल की किसी भी प्रकार से हिंसा न करे।^२ शीतोदक का सेवन न करे। तसानिवृत्त—तस होने पर जो निर्जीव हो गया हो, वैसा जल ले।^३

तस और अनिवृत्त—इन दो शब्दों का समाप्त मिथ (सचित्त-अचित्त) वस्तु का अर्थ जताने के लिए हुआ है। जितनी दृश्य वस्तुएँ हैं वे पहले सचित्त होती हैं। उनमें से जब जीव च्युत हो जाते हैं, केवल शरीर रह जाते हैं, तब वे वस्तुएँ अचित्त बन जाती हैं। जीवों का च्यवन काल-मर्यादा के अनुसार स्वयं होता है और विरोधी पदार्थ के संयोग से काल-मर्यादा से पहले भी हो मृकता है। जीवों की मृत्यु के कारण-भूत विरोधी पदार्थ शस्त्र कहलाते हैं। मिट्टी, जल, वनस्पति और त्रस जीवों का शमन अग्नि है। जल और वनस्पति सचित्त होते हैं। अग्नि भे उबालने पर ये अचित्त ही हैं। किन्तु ये पूर्ण-जात्रा में उबाले हुए न हो उस मिथनि में मिथ बन जाते हैं—कुछ जीव मरते हैं, कुछ नहीं मरते, इसलिए वे मचिन-अचित्त बन जाते हैं। इस प्रकार के पदार्थ को तसानिवृत्त न कहा जाता है।^४

गर्म होने के बाद ठंडा हुआ पानी कुछ समय में किर मचिन हो जाता है, उसे भी तसानिवृत्त कहा गया है।

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार ग्रीष्म-काल में एक दिन-रात के बाद गर्म पानी किर सचित्त हो जाता है तथा हेमलत और वर्षा-ऋतु के पूर्वाह्न में गर्म किया हुआ जल अपग्रह में सचित्त हो जाता है।^५ विनादाम महत्तर का भी यही अभिमन रहा

१—दशबैकालिक, ४। सू० २०; दा७।

२—बही, ६। २९, ३०, ३१।

३—बही, दा६।

४—अगस्त्य चूर्ण :

ज्ञाव जातीबअगणिपरिणामं तं तत्त्वपरिणिवृद्धं।

५—बही :

अहूवा तत्त्व वाणितं पुणो सीतलीशृंतं आउकायपरिणामं जाति तं अपरिणामं अणिवृद्धं गिन्हे अहोरत्तेण सचित्ती भवति, हेत्वते-वासासु, पुण्हे करं अवरहे।

है।^१ टीकाकार ने इसके बारे में कोई चर्चा नहीं की है। ओष्णनिर्मुक्ति आदि प्रन्थों में अचित वस्तु के फिर से सचित होने का वर्णन मिलता है। जल की योनि अचित भी होती है।^२

सूत्रकृतांग (२।३।५६) के अनुसार जल के जीव दो प्रकार के होते हैं—वात-योनिक और उदक-योनिक। उदक-योनिक जल के जीव उदक में ही पैदा होते हैं। वे सचित उदक में ही पैदा हो, अचित में नहीं हो, ऐसे विभाग का आधार नहीं मिलता क्योंकि वह अचित-योनिक भी है। इसलिए यह सूक्ष्म-दृष्टि से विमर्शनीय है। प्राणी-विज्ञान की दृष्टि से यह बहुत ही महत्व का है।

तेजस्-जगत् और अहिंसक निर्देशः

तेजस् काय के जीवों के भेद इस प्रकार हैं—

अग्नि— स्पर्श-प्राह्य अग्नि ।

ओग्नार— ज्वाला रहित कोयला आदि ।

मर्मूर— कड़े, करसी, तुथ, चोकर, भूसी आदि की आग ।

अर्चि— अग्नि से विच्छूल ज्वाला ।

अलात— अधजली लकड़ी ।

शद्-अग्नि— इन्धन रहित अग्नि ।

उन्का— गगनाग्नि ।

मुनि इनको प्रदीप न करे, इनका धर्यण न करे, इनको प्रज्वलित न करे, इनको न बुझाये।^३ प्रकाश और तापने के लिए अग्नि न जलाए।^४ अग्नि की किसी प्रकार से हिंसा न करे।^५

१—जिनवास चूर्णि, पृष्ठ ११४

तत्पाणीयं तं पुष्पो सीतलीभूतमनिष्टुड मण्डा, तं च न गिर्हे, रति पश्चु-
सियं सचित्ती मवह, हेमंतवासासु पुञ्चरहे कथ लबरहे सचित्ती मवति, एवं
सचितं जो मुंजह सो तत्त्वानिष्टुडमोहि मवह ।

२—स्थानांग, ३।१।१४० :

तिविहा जोकी पण्डा तंजहा—सकिता अकिता भीसिया । एवं
एर्मिदिवानं विलिदिवानं संमुच्छमपंचिदिवितिरिष्वजोनियानं
संमुच्छमपुस्तान य ।

३—वशवेकास्तिक, इ.पू० २०; दा० ।

४—वही, ६।३४ ।

५—वही, ६।३२-३५ ।

वायु-जगत् और अहिंसक निर्देश :

मुनि चामर आदि से अपने पर या दूसरों पर हत्या न करे। मैं हूँ से फूँक न दे।^१
बायुकाय की किसी भी प्रकार से हिंसा न करे।^२

बनस्पति :

आपूर्वेद के प्रन्थों में बनस्पति का एक विशेष अर्थ है। सुश्रुत संहिता में स्थावर औषधि के चार प्रकार बतलाए गए हैं—(१) बनस्पति, (२) वृक्ष, (३) वीरुष और (४) औषधि। इनमें से जिनके पुष्ट न हों किन्तु फल आते हो उन्हे बनस्पति; जिनके पुष्ट और फल दोनों आते हो उन्हें वृक्ष, जो फैलने वाली या गुल्म के स्वरूप की हो उन्हे वीरुष तथा जो फलों के पकने तक ही जीवित या विद्यमान रहती हो उन्हे औषधि कहते हैं।^३

आगम-साहित्य में बनस्पति शब्द वृक्ष, गुच्छ, गुल्म आदि सभी प्रकार की हरियाली का वाचक है।^४

सातवें अध्ययन में बनस्पति के क्रमिक विकास का निरूपण मिलता है। उतका उत्पादन सात अवस्थाओं में पूरा होता है। वे ये हैं^५ :

- १—रुद्ध ।
- २—इहुं संभूत ।
- ३—स्थिर ।
- ४—उत्सूत ।
- ५—गर्भित ।
- ६—प्रसूत ।
- ७—संसार ।

१—दशवेकालिक, छातू०२१; दा०६।

२—बही, ६।३६-३९।

३—सुश्रुत, द्रुष्ट-स्थान, १।३७।

तासां स्थावरास्तुर्बिद्धाः—बनस्पतयोः, वृक्षाः, वीरुष, औषधय इति। तातु अतुक्षयाः स्तम्भक्षयो बनस्पतयः। पुष्टवृक्षवृक्षो वृक्षाः। प्रतानवत्यः स्तम्भिवृक्षवृक्ष वीरुषः। फलपाकनिष्ठा औषधयः इति।

४—दशवेकालिक, छातू०८।

५—ऐसो—दशवेकालिक (ना०२), पृष्ठ १११-१२, स्तोक ३५ का हिष्पण।

बनस्पति की दश अवस्थाएँ होती हैं—(१) मूल, (२) कन्द, (३) स्कन्ध, (४) त्वचा, (५) शाखा, (६) प्रवाल, (७) पत्र, (८) पुष्प, (९) फल और (१०) बीज।

शिष्य ने पूछा—“गुरुदेव ! बीज में जो जीव था, उसके व्युत्कालत होने पर क्या दूसरा जीव वहाँ उत्पन्न होता है या वही जीव ?”

आचार्य ने कहा—“बीज दो प्रकार के हैं— योनिभूत और अयोनिभूत। योनिभूत बीज वह होता है जिसकी योनि नष्ट न हुई हो। जिस प्रकार ५५ वर्ष की स्त्री अयोनिभूत होती है—वह गर्भ को धारण नहीं कर सकती, उसी प्रकार ये बीज भी कालान्तर में अबीज हो जाते हैं। जो अयोनिभूत है वह नियमन निर्जीव होता है। योनिभूत सजीव और निर्जीव—दोनों प्रकार का होता है। उस योनिभूत बीज में व्युत्कालत होने वाला जीव भी उत्पन्न हो सकता है और दूसरा जीव भी। फिर बार-बार ; वहाँ दूसरे जीव भी उत्पन्न हो सकते हैं। कहा है—उत्पादामान सभी किसलय अनन्तजीवी होते हैं। बढ़ता हुआ वही बनस्पति अनन्तजीवी या परिणजीवी भी हो सकता है। बीज शरीरी जीव जहाँ-जहाँ अपनी काया को बढ़ाता है वहाँ-वहाँ पत्र, फूल, स्कन्ध, शाखा आदि को भी उत्पन्न करता है।”^१

वर्षा से उत्पन्न योनिक बनस्पति प्लान हो जाती है।^२

विभिन्न प्रकरणों में जलज व स्थलज बनस्पति के अनेक नाम मिलते हैं

जलज

स्थलज

१—हड (२१६) आदि-आदि।

१—मूला।

२—आद्रक।

३—इशु।

४—कन्द-मूल (३१७) आदि-आदि।

बनस्पति-जगत् और अहिसक निर्देश :

मुनि बनस्पति पर न चले, न लडा रहे, न बढे और न सोए।^३ बनस्पति को

१—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ १३८-१३९।

२—वही, पृष्ठ २६२ :

उत्तरोपिमो वा बनस्पति वा कुरेण्डा।

३—वस्त्रेकालिक, छात्त० २२; ५। १। ३, २६; ८। १। १।

कुचल कर भिखा दे उसके हाथ से बह न ले।^१ बनस्पति-गिरित भोजन न ले।^२ कर्जी बनस्पति न ले।^३ खाने का भाग कम और डालने का अधिक हो, वैसी बनस्पति न ले।^४ दूधों को देख कर ये गृह, कृषि आदि के उपकरण-निर्माण के उपयोगी हैं—इस प्रकार न कहे।^५ दूधों को पुष्टि और फलित देख कर वैसा बचन न कहे, जिससे उनका उपचात हो।^६

दूध, फल व मूल का छेदन न करे।^७ पुष्टि आदि सूक्ष्म बनस्पति का बध न हो, वैसी सावधानी बरते।^८ बनस्पति की किसी भी प्रकार से हिस्सा न करे।^९

त्रस-जगत् और अहिंसक निर्देश :

कीट, पतंग आदि त्रस-जीव अपने शरीर या धर्मोपकरण पर चढ़ जाएं तो उन्हे सावधानी पूर्वक वहाँ से हटा कर एकान्त मे रख दे, उनका संधान न करे।^{१०} कुत्ते, नई व्याई कुई गाय, उन्मत बैल, अद्व, हाथी आदि के समागम से दूर रहे।^{११} मार्ग मे जहाँ नाना प्रकार के प्राणी भोजन के निमित एकत्रित हो, उनके सम्मुख न जाए। उन्हें त्रास न दे।^{१२} मनुष्य पशु-पश्ची, साँप आदि को देख कर बह स्थूल है, बहुत चर्बी बाला है, वध्य है, बाह्य है अथवा पकाने योग्य है, ऐसा न कहे।^{१३} गायें दूहने योग्य हैं, बैल दमन करने योग्य है, हल मे जोतने योग्य है, भार ढोने योग्य है और ग्य-योग्य

१—दशवेकालिक, प्रा११२९ ; प्रा१२१४-१७।

२—बही, प्रा११५७।

३—बही, प्रा११७० ; प्रा१२१८-२४ ; दा१०।

४—बही, प्रा११७३,७४।

५—बही, दा२६-२९।

६—बही, दा३०-३५।

७—बही, दा१० ; १०।३।

८—बही, दा१४-१६।

९—बही, ६।४०-४२।

१०—बही, ४।८०-८२।

११—बही, प्रा१११२।

१२—बही, प्रा१२७।

१३—बही, दा२२।

है—ऐसा न कहे।^१ मेव, बाल्क, कुत्ते और बछड़े को उल्लंघ कर प्रवेश न करे।^२ तत्त्वाद्य की किसी भी प्रकार से हिंसा न करे।^३

२. स्वत्य

मुनि न स्वयं असत्य बोले, न दूसरों को असत्य बोलने की प्रेरणा दे और न असत्य का अनुमोदन करे।^४ क्रोध से या भय से, अपने लिए या दूसरों के लिए, घृणा न बोले। अप्रिय-सत्य भी न बोले।^५ सत्य में रत रहे।^६

३. अचौय

मुनि गाँव में, नगर में या अस्थि में, थोड़ी या बहुत, छोटी या बड़ी, सजीव या निर्जीव—कोई भी वस्तु बिना दी हुई न ले, स्वामी की आज्ञा के बिना न ले। न दूसरों को इस प्रकार अदत्त लेने की प्रेरणा दे और न अदत्त प्राहण का अनुमोदन करे।^७ नपस्या, वय, स्वप्न और आचार-भाव की चोरी न करे।^८

४. ऋष्यचर्य

मुनि देव, मनुष्य या तिर्यक सम्बन्धी मैथुन का सेवन न स्वयं करे, न दूसरों को मैथुन-सेवन के लिए प्रेरित करे और न मैथुन-सेवन का अनुमोदन करे।^९ ऋष्यचर्य थोर है, प्रमाद है, उमका सेवन न करे।^{१०} केवल स्त्रियों के बीच व्याख्यान न दे।^{११} स्त्रियों के चित्रों से चित्रित भित्ति या आभूषणों से सुसज्जित स्त्री को टकटकी लगा कर न

१—वशवैकालिक, ३।२४।

२—बही, ४।१।२२।

३—बही, ६।४३-४५।

४—बही, ४।४०।१२।

५—बही, ६।१।१।

६—बही, ६।१।३।

७—बही, ४।४०।१३; ६।१।३, १४।

८—बही, ४।२।४६।

९—बही, ४।४०।१४।

१०—बही, ६।१।५।

११—बही, ६।४२।

देखे।^१ विकलांग या बुद्ध स्त्री से भी दूर रहे।^२ विमूषा न करे। प्रणोत रस का भोजन न करे। स्त्री का संसर्व न करे।^३ स्त्रियों के अंग, प्रत्यंग, संस्थान, मचुर बोली और कटाक्ष को न देखे।^४ ऋष्णवारी मनोङ्ग विषयों में राग-भाव न करे।^५ आसन्त दृष्टि से न देखे। घर में जा अतिहूर तक न देखे।^६ स्तनान-घर और शौष्ठ-गृह को न देखे।^७

५. अपचित्प्रहृ

मुनि गाँव, नगर या अरण्य में अल्प या बहुत, छोटी या बड़ी, सजीव या निर्जीव—कोई भी वन्तु पर ममत्व न रखे, न दूसरों को ममत्व रखने की प्रेरणा दे और न ममत्व का अनुमोदन करे।^८ खाद्य-पदार्थों का संग्रह न करे। ये मेरे कल काम आयेंगे—ऐसा सोच संचय न करे।^९ मुनि वस्त्र, पात्र तो क्या शरीर पर भी ममत्व न रखे।^{१०} उपचिंह में आसन्त न बने।^{११} ऋद्धि, सत्कार और पूजा की भावना का ल्याग करे। जीवन की अभिलाषा न करे।^{१२} मुनि भोजन के लिए कही प्रतिबद्ध न हो।^{१३}

१—दशवेकालिक, ८।५३, ५४।

२—जही, ८।५५।

३—जही, ८।५६।

४—जही, ८।५७।

५—जही, ८।५८।

६—जही, ५।१।२३।

७—जही, ५।१।२५।

८—जही, ४।४०।४५।

९—जही, ६।१७; १०।८।

१०—जही, ६।२।

११—जही, १०।१६।

१२—जही, १०।१७।

१३—जही, १।५।

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय ४

चर्चा-पथ

१—चर्चा और विहार

मुनि आतापना ले—परिषमी बने, सुकुमारता को छोड़े—कान्त-सहिष्णु बने। वह—
 स्नान न करे।^१
 गन्ध न सूचे। गन्ध-द्रव्य का विलेपन न करे।^२
 माला न पहने।^३
 पंखा न भले।
 गुहास्थ के पात्र मे भोजन न करे।^४
 राज-पिण्ड न ले।^५
 दानशाला मे न ले।^६
 अंग-मर्दन न करे।^७
 दौत न पत्तारे। दनीन न करे।^८
 शरीर का प्रमार्जन न करे।^९
 दार्ढा आदि मे शरीर न देखे।^{१०}
 शतरंज न खेले। जूझा न खेले।^{११}
 छत्र धारण न करे।^{१२}
 जूने न पहने।^{१३}
 उबटन न करे।^{१४}
 स्त्र-बल, कान्ति बढ़ाने के लिए धूम-पान न करे, बमत न करे, बस्तिकर्म न करे।
 विरेचन न ले।^{१५}
 आँखो मे अंजन न आजे।^{१६}
 तेल-मर्दन न करे।^{१७}
 शरीर को अलंकृत न करे।^{१८}

१, २, ३, ४—इश्वरैकालिक, ३। २; ६। ६०-६३।

५, ६, ७, ८, ९, १०—बही, ३। ३।

११, १२, १३—बही, ३। ४।

१४—बही, ३। ५।

१५, १६, १७, १८—बही, ३। ९।

मुनि श्रीधर में सूर्य की आतापना ले, हेमन्त में खुले बदन रहे और वर्षा-ऋतु में एक स्थान में रहे।^१ भिक्षा न मिलने पर शोक न करे, सहज तप मान भूल को सहन करे।^२ बन्दना न करने पर कुपित न हो और बन्दना करने पर गर्वित न हो।^३ मुनि तपस्या करे, प्रणीत रस का बजंन करे और भव्य-ग्रमाद से दूर रहे।^४ मुनि सभी उपरोक्तों का तथा उच्चार-भूमि, संस्तारक आदि का यथासमय प्रमाणोपेत प्रतिलेखन करे।^५ मुनि अनेक बातें मुनता है, अनेक चीजें देखता है, किन्तु सभी मुना या देखा हुआ दूसरों के समझ न कहे।^६ गहर्थ से संसर्ग—परिचय न करे।^७ किसी एक कुल या ग्राम के निश्चित न रहे, किन्तु जनपद के निश्चित रहे।^८ कर्कश और दाढ़ण स्वर्ण को सहे।^९ भूल, प्यास, गर्भी, सर्दी, रति, अरति आदि को समझाव से सहे।^{१०} किसी का तिरस्कार न करे। अपना उत्कर्ष न दिलाए। ज्ञान, जाति और तपस्या का मद न करे।^{११} अपनी भूल स्वीकार करे। दूसरी बार उसे न दोहराए।^{१२} अपराध को न छुपाए, न उमड़ा अपलाप करे।^{१३} मदा घट रहे।^{१४} निद्रा को बहुमान न दे। अट्ठास न करे, काम-कथा न करे।^{१५} मुनि दूसरों के लिए बने हुए, मल-मूत्र की भूमि में युक्त, स्त्री और पशु से रहित रह, शयन और आसन का मेवन करे।^{१६} विम श्रद्धा में प्रवर्ज्या ले, उमी श्रद्धा

१-बही, ३।१२।

२-बही, ४।२।६।

३-बही, ५।२।३।

४-बही, ५।२।४।

५-बही, ८।१।

६-बही, ८।२।

७-बही, ८।२।५।

८-बही, ८।२।४।

९-बही, ८।२।६।

१०-बही, ८।२।७।

११-बही, ८।२।८।

१२-बही, ८।२।९।

१३-बही, ८।२।१।

१४-बही, ८।२।२।

१५-बही, ८।२।४।

१६-बही, ८।२।१।

से पालत करे।^१ छोटे-बड़े, मध्दी-मुख, गृहस्थ-साधु—किसी का तिरस्कार न करे।^२ नीर्घंकर के बचन में स्थिर रहे। अघन—अकिञ्चन बना रहे।^३ गृहपति की आज्ञा लिए बिना चिक आदि को हटा कर अन्दर प्रवेश न करे।^४ बहुश्रूत के पास बैठे, अर्थ का निष्पत्ति करे। बहुश्रूत का उपहास न करे।^५ भोजन कर न्यायाय में लीन हो जाए।^६ कभी भयभीत न हो।^७ मुल-दुल में सम रहे। भोग-प्राप्ति का संकल्प न करे।^८ कुम्भल न करे।^९ ऋद्धि, सलकार और पूजा को त्यागे।^{१०} म्यतात्मा बने।^{११} रूप और लाभ का भद न करे।^{१२}

- १—बही, ८।६०।
- २—बही, १।३।१२।
- ३—बही, १०।६।
- ४—बही, ५।१।१८।
- ५—बही, ८।४३, ४९।
- ६—बही, १०।९।
- ७—बही, १०।१२।
- ८—बही, १०।१।
- ९—बही, १०।१३।
- १०—बही, १०।१७।
- ११—बही, १०।१७।
- १२—बही १०।१९।

२—वेग-निरोध

मल-मूत्र के वेग को न रोके। मल-मूत्र की बाधा होने पर प्रामुख स्थान देख कर, यहस्तामी की आज्ञा ले, उससे निवृत्त हो जाए।^१

अगस्त्यसिंह म्यविर मल-मूत्र आदि आवेगों को रोकने से होने वाले रोगों का दिग्दर्शन करते हुए कहते हैं—मूत्र का वेग रोकने में चक्षु की ऊपरि नष्ट हो जाती है। मल का वेग रोकने में जीवनी-शक्ति का नाश होता है। ऊर्ध्व वायु रोकने से कुण्ठ-रोग उत्पन्न होता है और वीर्य का वेग रोकने से पुरुषत्व की हानि होती है।^२

वेग-निरोध के सम्बन्ध में आयुर्वेद का अभिभाव यह है—मनुष्य वात (ऊर्ध्व वात एवं अधोवात) मल, मूत्र, छ्वीक, प्यास, भूख, निद्रा, कास, अम-जनित श्वास, जम्भाई, अथ, वमन और शुक्र—इन तेरह वस्तुओं के उपचित्र (बहिर्गमनोन्मुख) वेगों को न रोके।^३ मल के वेग को रोकने में पिण्डलियों में ऐठन, प्रतिक्षाय, सिरदर्द, वायु का ऊपर को जाना, पटिकत्तिका, हृदय का अवरोध, मुख में मल का आना और पूर्वोत्त वात-रोध जन्य गुन्म, उदावतं आदि रोग होते हैं। मूत्र के उपचित्र वेग को रोकने में—अङ्गों का टूटना, पथरी, बम्पि, मेहन (शिशन) वंक्षण में वेदना होती है। वात और मलरोध जन्य रोग भी प्राय होते हैं, अर्थात् कभी नहीं भी होने हैं।^४

१—दशबैकालिक, ५।१।१९।

२—अगस्त्य चूर्णि

मुत्तनिरोहे चक्षुं, वच्चनिरोहे य जीवियं चयति ।

उष्णं निरोहे कोहं, मुक्तनिरोहे मवह अग्रम् ॥

३—अट्टांगहृदय, सूत्रस्थान, ४।१ :

वेगान्धारयेह तत्त्विष्मूत्रक्षमतृष्टुधाम् ।

निद्राकासभमस्वासजून्माऽभुज्ञादितेसाम् ॥

४—वही, ४। ३-४।

३—ईर्यापथ

कैसे चले ?

मुनि संयम पूर्वक चले—सावधान होकर चले।^१ धीमे चले, उद्देश-रहित होकर चले, चित की आकुलता को मिटा कर चले।^२ युग-मात्र भूमि को देख कर चले।^३ आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी युग-मात्र भूमि को देख कर चलने का विधान मिलता है—‘विचरेद् युगमात्रक्’।^४ विषम मार्य में न जाए।^५ कोयले, राख, तुष और गोबर की राशि को सजीव रजकणों से भरे हुए पेणे में लांघ कर न चले।^६ अष्टांगहृदय में भी राख आदि के ढेर को लाँघ कर जाने का नियेष किया गया है। उसका उद्देश्य भले भिन्न हो पर नियम-निर्माण भिन्न नहीं है। वह इस प्रकार है—चैत्य (प्राम का पूज्य दृश्य), पूज्य (पूजा के योग्य ग्रन्थ, जिन आदि), छजा, अशम (चाण्डाल आदि)—इनकी छापा को न लाँघे। भस्म (राख का ढेर), तुष (धान्य की भूसी), अशुचि (मल, मृत्र, जूँठन आदि), शर्करा (कंकड़), मिट्ठी के ढेले, बलि-भूमि (जहाँ बलि दी गई हो), म्नान-भूमि (जहाँ म्नान किया हो)—इनको भी नहीं लाँघे।^७ वर्षा, धूबर और महावायु में न चले। उढ़ने काले जीव अधिक हो तब न चले।^८ कुत्रि, नव-प्रसूता गाय, उमस्त बैल, घोड़े-हाथी, बच्चों की कीड़ा-स्थली, कलह और यद्ध में बच कर चले।^९ अष्टांगहृदय में लिखा है—हिमक पश्च, इष्टी—माँप आदि और भीग बाल—मेष आदि से बचे।^{१०} ऊँचा मुख करन चले,

१—वस्त्रेकालिक, ४।

२—सही, ५।

३—सही, ५।

४—अष्टांगहृदय, सूत्रस्थान, २।३२।

५—वस्त्रेकालिक, ५।१४, ६।

६—सही, ५।

७—अष्टांगहृदय, सूत्रस्थान, २।३३।२४।

८—वैद्यपूज्यव्यापाशस्तच्छायाभस्मतुषासुवीन् ॥

नाकामेष्वर्तालोष्टवलिस्ताम सुदो न च ॥

९—वस्त्रेकालिक, ५।१८, ९।

१०—सही, ५।११२।

१०—अष्टांगहृदय, सूत्रस्थान, २।४१।

मुक्त कर न चले, बहुत हँस्ट या बहुत आकुल होकर न चले, इन्द्रियों को अपने स्थान में नियोजित करके चले।^१ दौड़ता, बोलता और हँसना हुआ न चले।^२ गवाह आदि शांकनीय स्थानों को देखना हुआ न चले।^३ भेड़, बछवे, कुत्ते और बछड़े को लांच कर प्रवेश न करे।^४ हिलते हुए काठ, गिला या ईंट के टुकड़े पर से न चले।^५ नाना प्रकार के प्राणी भोजन के लिए प्रकृतिं हो, उनके सम्मुख न जाए। उन्हें जास न देता हुआ यतनापूर्वक चले।^६

कैसे बैठे ?

मुनि संयम पूर्वक बैठे—मावधारी से बैठे।^७ आसन्दी, पर्यंक, मंच, आसानक (अवष्टम सहित आमन), वस्त्र में गथे हुए आमन और पीछे पर न बैठे।^८ भिड़ा करते समय गृहस्थ के घर में न बैठे।^९ शृङ्ग पृथ्वी—शस्त्र में अनपहत पृथ्वी पर या पृथ्वी पर कुछ विद्युग बिना न बैठे। अचिन पृथ्वी पर प्रमाजन कर, बाजा लेकर बैठे।^{१०} आठ प्रकार के मूर्ख लीजों को देख कर बैठे।^{११} आचार्य के बगवार, आगे और पीछे न बैठे। गुरु के ऊपर में अपना ऊह सटा कर न बैठे।^{१२} गुरु के पास हाथ, पैर और शरीर को गुम कर बैठे।^{१३}

कैसे खड़ा रहे ?

मुनि संयमपूर्वक खड़ा रहे।^{१४} पानी तथा मिट्टी लाने के मार्ग और बीज तथा

१—दशबंकालिक, ५१११३।

२—बही, ५१११४।

३—बही, ५१११५।

४—बही, ५११२२।

५—बही, ५११६५।

६—बही, ५१२१७।

७—बही, ४१८।

८—बही, ३१५; ६१५३, ५४।

९—बही, ३१५; ६१५७।

१०—बही, ८१५।

११—बही, ८१३।

१२—बही, ८१४।

१३—बही, ८१४।

१४—बही, ४१८।

हरियाली का बजन कर खड़ा रहे।^१ आगल, परिष, द्वार या किवाड़ का सहारा लेकर खड़ा न रहे।^२ किसी घर के आगे बनीपक आदि यात्रक सड़े हों तो मुनि उनको या गृहस्वामी को दीखे, वैसे खड़ा न रहे, एकान्त में जाकर खड़ा हो जाए।^३ बन-निकुञ्ज के बीच, बीज, हरित, अनन्त कायिक बनस्पति, सर्पच्छन्त्र, काई आदि पर खड़ा न रहे।^४ आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवों को देख कर खड़ा रहे।^५ गृहस्थ के घर में मुनि झरोखा, सन्धि आदि स्थानों को देखता हूआ खड़ा न रहे, उचित स्थान में खड़ा रहे।^६

१—ब्रह्मकाण्डिक, ५।१।२६।

२—बही, ५।२।१९।

३—बही, ५।२।११।

४—बही, ८।१।

५—बही, ८।१।३।

६—बही, ५।१।१५।

४—वाक्-शुद्धि

कैसे बोले ?

मुनि चार भाषाएँ न बोले— (१) अवक्तव्य-सत्य भाषा, (२) सत्य-असत्य भाषा, (३) असत्य भाषा, और (४) अनाचीर्ण व्यवहार भाषा।^१ अपापकारी, अकर्कश, असंदिग्ध सत्य और व्यवहार भाषा बोले।^२ अपने आशय को संदिग्ध बनाने वाला सत्य भी न बोले।^३ शक्ति भाषा न बोले।^४ काने को काना, नपुसक को नपुसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर न कहे।^५ किसी को होल, गोल, आदि अवज्ञा-सूचक शब्दों से सम्बोधित न करे।^६ किसी मृत्री को दाढ़ी, नानी, माँ, मीसी, भानजी आदि स्नेह-सूचक शब्दों से सम्बोधित न करे। किन्तु उनके अवस्था, देश, ऐक्वर्ट आदि की अपेक्षा गृण-दोष का विचार कर उनके मूल नाम या गोत्र से सम्बोधित करे।^७ किसी पुरुष को दादा, नाना, चाचा, मामा, पोता आदि स्नेह-सूचक शब्दों से सम्बोधित न करे। किन्तु उन्हें नाम या गोत्र से सम्बोधित करे।^८ पञ्चेन्द्रिय जीवों के बारे में मृत्री-पुरुष का सन्देह हो तो उनके लिए जाति-शब्द का प्रयोग करे।^९ मनुष्य, पशु आदि म्यूल, प्रेमदुर, वध्य, पाक्य है—ऐसा न बोले। किन्तु वे परिवृद्ध, उपचित, संजात और महाकाय है—ऐसा कहे।^{१०} बृत आदि को देख कर यह यकान की लकड़ी के लिए या पात्र के लिए या कृषि के उपकरणों के लिए, अहरन आदि के लिए या शयनासन के लिए उपयोगी

१—शास्त्रैकालिक, ७।२।

२—शही, ७।३।

३—शही, ७।४,१।

४—शही, ७।६,९।

५—शही, ७।१,२।

६—शही, ७।१,४।

७—शही, ७।१५-१७।

८—शही, ७।१८-२०।

९—शही, ७।२।

१०—शही, ७।२२,२३।

है, ऐसा न कहे।^१ फक्त या बान्ध पके हैं या कच्चे, तोड़ने योग्य हैं या नहीं, फली नीली हैं या सूखी आदि सावध भाषा का प्रयोग न करे।^२ मृत-भोज, पितर-भोज या जीमनवार करणीय है, चौर वष्ट है, नदी के घाट सुन्दर है—ऐसा न कहे।^३ जीमनवार को जीमनवार है, चौर को घनाथी है और नदी के घाट समान है—ऐसा कहे।^४

भोजन मन्वन्थी प्रश्नमा-वाचक शब्दों का प्रयोग न करे।^५ वस्तुओं के क्रय-विक्रय की चर्चा न करे।^६ असंयमी को उठ, बेठ, सो आदि आदेश बचन न कहे।^७ असाधु को साधु न कहे, साथु को माथु कहे।^८ अमुक की जय हो, अमुक की नहीं—ऐसा न कहे।^९ अपनी या दूसरों की भौतिक मृत्यु-पूर्विका के लिए प्रतिकूल स्थिति के न होने और अनुकूल स्थिति के होने की बात न कहे।^{१०} मेघ, आकाश और मनुष्य को देव न कहे।^{११} उन्हे देव कहने में मिथ्यात्व का स्थिरीकरण होता है, इमलिए उन्हे देव नहीं कहना चाहिए।^{१२}

वैदिक माहिन्य में आकाश, मेघ और राजा को देव माना गया है, किन्तु यह वस्तु-स्थिति में दूर है। जनता में मिथ्या धारणा न केंले, इमलिए यह नियेष किया गया है।

पाप का अनमोदन करने वाली, अवधारिणी, परोपधातिनी, हास्य पैदा करने वाली आदि भाषा न बोले।^{१३} अदुष्ट भाषा बोले।^{१४} हित और आनुलोभिक बचन बोले।^{१५}

१—दशबैकालिक, ७।२७-२९।

२—यही, ७।३१-३५।

३—यही, ७।३६।

४—यही, ७।३७।

५—यही, ७।४१।

६—यही, ७।४३,४५,४६।

७—यही, ७।४७।

८—यही, ७।४८।

९—यही, ७।५०।

१०—यही, ७।५१।

११—यही, ७।५२,५३।

१२—अस्तर्य चूर्णि :

मिळ्छत्तिरीकरणाशयो दोत्ता इति ।

१३—दशबैकालिक, ७।५४।

१४—यही, ७।५५।

१५—यही, ७।५६।

प्रयोगनवश बोले, परिमित बोले।^१ बिना पूछे न बोले, बीच में न बोले। चुनली न खाएं और कपट-पूर्ण असत्य न बोले।^२ जिससे अप्रीति उत्पन्न हो और जिससे दूसरा कुपित हो, ऐसा न बोले।^३ देखी हुई वात कहे, जोर से न बोले, स्वर-अंजन आदि युक्त बोले, स्थृत बोले, भय रहित बोले।^४ पीठ पीछे अवर्णवाद तथा प्रत्यक्ष में बैर बढ़ाने वाले वचन न बोले।^५ कलह उत्पन्न करने वाली कथा न कहे।^६

भगवान् महाबीर ने अहिंसा की इष्टि से सावध और निरवद्य भाषा का सूक्ष्म विवेचन किया है। प्रिय, हित, मित, मनोहर वचन बोलना चाहिए—यह स्थूल बात है। इसकी पुष्टि नीति के ढारा भी होती है। किन्तु अहिंसा की इष्टि नीति में बहुत आगे जाती है। श्रद्धेद में भाषा के परिकार को अभ्युदय का हेतु बतलाया है।

मक्तुमिव तितउना पुनल्तो यत्र धीरं मनसा वाचमकत ।

अत्रा सखाय सम्यानि जानते भद्रं वां लक्ष्मीर्निहिताचि वाचि ॥५॥

—जैसे चलनी में सन्तू को परिष्कृत किया जाता है, वैसे ही दुर्दिमान् लोग दुर्दि के बल में भाषा को परिष्कृत करते हैं। उस समय विद्वान् लोग अपने अभ्युदय को जानते हैं। विद्वानों के वचन में मगलमयी लक्ष्मी निवास करती है।

महात्मा बुद्ध ने चार अंगों में युक्त वचन को निरवद्य वचन कहा है।

ऐसा मैंने मूला एक समय भगवान् श्रावणी में अनाधिगिणक के उत्तवनाराम में विहार करने थे। उस समय भगवान् ने भिक्षुओं को सम्मोहित कर कहा—“भिक्षुओं। चार अंगों में युक्त वचन अच्छा है न कि दुरा, विदो के अनुसार वह, निरवद्य है, दोषरहित है। कौन से चार अंग ? भिक्षुओं ! यहाँ भिक्षु अच्छा वचन ही बोलता है न कि दुरा, धार्मिक वचन ही बोलता है न कि अधार्मिक, प्रिय वचन ही बोलता है न कि अप्रिय, सत्य वचन ही बोलता है न कि असत्य। भिक्षुओं ! इन चार अंगों से युक्त वचन अच्छा है न कि दुरा, वह विज्ञों के अनुसार निरवद्य तथा दोषरहित है।”

ऐसा बता कर बुद्ध ने फिर कहा

१—दशबैकालिक, दा१९।

२—बही, दा४६।

३—बही, दा४७।

४—बही, दा४८।

५—बही, ११३१९।

६—बही, १०११०।

७—श्रद्धेद, १०१७१।

“सत्तो ने अच्छे वचन को ही उनम बताया है। धार्मिक वचन को ही बोले, न कि अधार्मिक वचन—यह दूसरा है। प्रिय वचन को ही बोले, न कि अप्रिय वचन को—यह तीसरा। सत्य वचन को ही बोले न कि असत्य वचन को—यह है चौथा।”

तब आयुष्मान् वंगीस ने आसन से उठकर, एक कंधे पर चीवर सम्भाल कर भगवान् का हाथ जोड़ अभिवादन कर उन्हे कहा—“भले ! मुझे कुछ सूझता है।” भगवान् ने कहा—“वंगीस ! उमे मुनाओ।” तब आयुष्मान् के समुख अनुकूल गाथाओ में यह सुन्ति की

“वह बात बोले जिसमें न स्वार्ग कट पाए और न दूसरे को ही दुःख हो, ऐसी बात सुन्दर है।”

“आनन्ददायी प्रिय वचन ही बोले। पापी बातो को छोड़ कर दूसरो को प्रिय वचन ही बोले।”

“सत्य ही अमृत वचन है, यह मदा का धर्म है। सत्य, अर्थ और धर्म में प्रतिष्ठित मंतो ने (गेसा) कहा है।”

“तुझ जो कल्याण-वचन निर्वाण-प्राप्ति के लिए, दुःख का अल करने के लिए बोलते हैं, वही वचनो में उत्तम है।”^१

५—एषणा

भिक्षा की एषणा क्यों और कैसे ?

मूनि माधुकरी दृढ़ि से दान—भक्त की एषणा करे।^१ यह भोजन किसलिए किया है, किसने किया है—यह पूछ कर ग्रहण करे।^२ यदि पर्याप्त भोजन उपलब्ध न हो या प्राप्त हुए भोजन से भूख न खिटे तो और भोजन को गवेषणा करे।^३ मूनि समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर लौट आए।^४ भिक्षा के लिए मूनि पूरुषकार करे।^५ उच्छ्र की एषणा करे।^६ भिक्षा का लिपेश करने पर बिना कुछ कहे लाट आए।^७ भिक्षा के लिए घर मे प्रविष्ट मूनि गृहपति के द्वारा अनुज्ञान या वर्जित भूमि (अति-भूमि) मे न जाए। जहाँ तक जाने मे गृहस्थ को अप्रीति न हो, जहाँ तक अन्य भिक्षाचर जाते हों उम (कुल-भूमि) मे खड़ा रहे।^८ भिक्षा के लिए गथा हृभा मूनि कही न बढ़े, खड़ा रह कर भी कथा का प्रबन्ध न करे।^९ भक्त-पान के लिए घर मे जाते हुए धर्मण, द्राघ्यण, कृपण या बनीपक को लौंघ कर गृहस्थ के घर मे भिक्षा के लिए प्रवेश न करे।^{१०} इनके चले जाने पर घर मे प्रवेश करे।^{११} राजा, गृहपति और आरक्षिको के मंत्रणा-स्वान के पास न जाए।^{१२} निषिद्ध, मासक और अप्रीतिकर कुल मे

१—दशवैकालिक, ११२, ३।

२—बही, ५।१।५६।

३—बही, ५।२।२, ३।

४—बही, ५।२।४, ६।

५—बही, ५।२।६।

६—बही, ८।२३।

७—बही, ८।१।२३।

८—बही, ८।१।२४।

९—बही, ८।१।८।

१०—बही, ५।२।१०, १२।

११—बही, ५।२।१३।

१२—बही, ५।१।१६।

भोजन लेने न जाए।^१ तस्काल मे लीपे हुए भाँगन मे भोजन लेने न जाए।^२ गृहपति की आज्ञा लिए बिना शाणी और प्रावार से आच्छादित द्वार को खोल भोजन लेने अन्दर न जाए।^३ नीचे द्वार बाले अन्धकारपूर्ण कोठे मे तथा जहाँ पुष्प, बीज आदि बिल्ले रहे, वहाँ भोजन लेने न जाए।^४ भिक्षा, शयन, आसन आदि न देने पर गृहस्थ पर कृपित न हो।^५ दूसरों की प्रशंसा करता हुआ याचना न करे।^६ वर्षा बरस रही हो, कुहरा गिर रहा हो, महावात चल रहा हो या मार्ग मे संपातिम जीव छा रहे हो तो भिक्षा लेने न जाए।^७ वेष्या-पाठे मे भिक्षा लेने भी न जाए।^८ मामृदानिक भिक्षा करे—नीचे कुलों को छोड़ कैंचे कुल मे न जाए।^९

भिक्षा कैसे ले ?

मूल यथाकृत आहार ले।^{१०} अपने लिए बनाया हुआ, अपने निमित्त खरीदा हुआ, निमत्रण पूर्वक दिया हुआ, सम्मुख लाया हुआ भोजन न ले।^{११} शव्यातर का भोजन न ले।^{१२} जानि, कुल, गण, शिल्प और कर्म को जाता कर भिक्षा न ले।^{१३} भोजन आदि को गिराने हुए भिक्षा दे तो न ले।^{१४} प्राणि, बीज और हरियाली कुचलते हुए दे तो न ले।^{१५} सचिन का मंचटून कर दे तो न ले।^{१६} पुराकर्म-हृत, पश्चात्कर्म-हृत और असंस्पृष्ट भोजन न

१—शब्दोकालिक, ५१११७।

२—बही, ५११२१।

३—बही, ५१११८।

४—बही, ५११२०,२१।

५—बही, ५१२१२७,२८।

६—बही, ५१२१२९।

७—बही, ५१११८।

८—बही, ५१११९।

९—बही, ५१२१२५।

१०—बही, ११४।

११—बही, ३१२।

१२—बही, ३१५।

१३—बही, ३१६।

१४—बही, ५११२८।

१५—बही, ५११२९।

१६—बही, ५११३०-३१।

ले।^१ गम्भवनी स्त्री के लिए विशेष रूप से बनाया हुआ भोजन, जो वह खा रही हो न ले। खाने ने बाद बचा हो वह ले।^२ पूरे मास वाली गर्भिणी के हाथ से भोजन न ले।^३ बालक या बालिका को मनपान करती हुई स्त्री बालक को रोता हुआ छोड़, भिक्षा दे, वह न ले।^४ विभिन्न द्रव्यों से ढके, लिये और मृदे हुए पात्र का मुख खोल भिक्षा दे, वह न ले।^५ दान के निमित्त, पुष्प के निमित्त, बनीपक के निमित्त और श्रमण के निमित्त बनाया भोजन न ले।^६ पूरीकर्म—आधारकर्म आदि से मिथ्र भोजन, व्यथवतर—अपने साथ-साथ साथु के निमित्त बनाया हुआ भोजन, प्रामित्य—साथु को देने के लिए उधार लिया हुआ भोजन और मिथ्र-भोजन न ले।^७ मात्राप्रहृत भिक्षा न ले।^८ पुष्प, बीज और हरियाली में उत्पत्ति, पानी उनिंग और पतक पर रखा हुआ और अग्नि पर रखा हुआ भोजन न ले।^९ चूल्हे में इन्धन डाल कर, निकाल कर, चूल्हे को मुलगा कर या बुझा कर भिक्षा देना न ले। अग्नि पर रखे हुए पात्र में भोजन निकाल कर, छीटा देकर, चूल्हे पर पात्र को टेहा कर, उतार कर भोजन देना न ले।^{१०} दूकान में गर्भा हुई चोरों, जो सचिन रजों से स्मृष्ट हो, न ले।^{११} जिसमें खाने का भाग घोड़ा हो और डालना अधिक पड़—वेसा पदार्थ न ले।^{१२} कूल आड़ि भनिन द्रव्यों को कुचल कर भिक्षा देना न ले।^{१३} अपक्व हग्नि आदि न ले।^{१४} एक बार भूजी हुई कली

१—दशबैकालिक, ५११३२-३५।

२—बही, ५११३८।

३—बही, ५११४१,४२।

४—बही, ५११४१,४३।

५—बही, ५११४५,४६।

६—बही, ५११४७-५४।

७—बही, ५११५५।

८—बही, ५११६७-६८।

९—बही, ५११५७-६२।

१०—बही, ५११६३,६४।

११—बही, ५११७१,७२।

१२—बही, ५११७४।

१३—बही, ५१२१४,१७।

१४—बही, ५१२१८,१९-२४।

न ले।^१ जिस वस्तु के दो रक्षामी या भोक्ता हों, उनमें से एक निर्मत्रित करे तो मुनि वह आहार न ले।^२ दोनों निर्मत्रित करे तो ले।^३ गुड़ के खटे का धोवन, आटे का धोवन, जो तत्काल का धोवन (अधुनाधोत) हो न ले।^४ जिसका स्वाद, गंध और रंग न बदला हो, विरोधी शस्त्र द्वारा जिसके जीव शस्त्र न हुए हो तथा परम्परा के अनुसार जिस धोवन को अनर्मुहृत्त-काल न हुआ हो, वह अधुनाधोत कहलाता है।^५ बहुत स्ट्रा पानी न ले। पानी को चबकर ले।^६ आगम-रचना-काल में माधुओं को यजोदक, तुषोदक, मादीर, आगनाल आदि अग्न जल ही अधिक मात्रा में प्राप्त होते थे। उनमें कांडी की भौति अम्लना होती थी। अधिक समय होने पर वे जल अधिक अम्ल हो जाते थे। दुर्घट भी पेंदा हो जाती थी। बैंग जलो में प्यास भी नहीं बुझती थी। इसलिए उन्हें चब कर लेने का विधान किया गया।

कैसे स्थाए ?

यामान्य विधि के अनुसार मुनि गोचराग्र से बापस आ उपाश्रय में भोजन करे। किन्तु जो मुनि दूसरे गाँव में भिक्षा लाने जाए और वह बालक, बृद्धा, दुभृशित, तपस्वी हो या व्याम में पीड़ित हो तो उपाश्रय में आने से पहले ही भोजन कर सकता है। यह आपवादिक विधि है। इसका स्वरूप यह है—जिस गाँव में वह भिक्षा के लिए जाए वहाँ साधु ठहरे हुए हो तो उनके पास आहार करे। यदि साधु न हो तो कोष्ठक अथवा भित्ति-मूल, जो ऊर से आया हुआ हो और चारों ओर से सृजन हो, वहाँ जाए और आज्ञा लेकर भोजन के लिए बढ़े। आहार करने से पूर्व 'हस्तक' (मुखपोतिका, मुख-वस्त्रिका) से ममूचे शरीर का प्रमार्जन कर भोजन प्रारम्भ करे। भोजन करते समय यदि भोजन में गुठली, कांटा, आदि निकले तो उन्हें उठाकर न करें, मैंह से न घूंकें, किन्तु हाथ में एकान्त में रख दे।^७

उपाश्रय में भोजन करने की विधि यह है कि मुनि भिक्षा लेकर उपाश्रय में आ

१—सर्वात्मकालिक, ५।२।२०।

२—जही, ५।१।३७।

३—जही, ५।१।३८।

४—जही, ५।१।७५।

५—जही (मा० २), कृष्ण २७२, हिन्दू १९३।

६—जही, ५।१।७६।

७—जही, ५।१।८२-८६।

सर्व प्रथम स्थान का प्रतिलेखन करे। तदनन्तर लाइट हुई भिक्षा का विशेषण करे। उसमें जीव-जन्म या कंटक आदि हों तो उन्हे निकाल कर अलग रख दे।

उपाध्यय मे विमपूर्वक प्रवेश कर गुरु के सभीय आ 'ईर्यापिचिकी' सूत्र पढ़े, फिर कायोत्सर्ग करे। आलोचना करने से पूर्व आचार्य की आज्ञा ले। आज्ञा प्राप्त कर आने-जाने मे, भक्त-पान लेने मे लगे सभी अतिवारों को यथाक्रम याद कर, जो कुछ जैसे बीता हो, वह सब आचार्य को कहे और कहु बन आलोचना करे। यदि आलोचना करने मे क्रम-भेद हुआ हो तो उमका फिर प्रतिक्रमण करे। फिर शरीर को स्थिर बना—निरबद्ध-दृष्टि और शरीर-ध्यान के प्रयोजन का चिन्तन करे। इस प्रचिन्तनमय कायोत्सर्ग को नमस्कार-मंत्र के हारा पूर्ण कर जिन-संस्तव (लोगस्स) पढ़े, और ध्यान भर के लिए विद्याम करे और जघन्यन नीन मायाओं का स्वाध्याय करे। जो मुनि आन—प्राणलिङ्घ से सम्बन्ध होते हैं, वे इस विद्याम काल मे सम्पूर्ण चौदह-पूर्वी का परावर्तन कर लेते हैं। इस विद्याम मे अनेक लाभ होते हैं। भिक्षाचरी मे डधर-उधर चर्मने तथा ऊँचे-नीचे जाने मे विद्येष श्रम होता है। उसमे जीर्ण की समस्त धातुएँ क्षुद्र हो जाती हैं। ऐसी विद्यनि मे भोजन करने पर अनेक गोग उत्पन्न हो सकते हैं और कभी-कभी मृत्यु तक हो जाती है। विद्याम करने मे इन सब दोषों से बचा जा सकता है। विद्याम करता हुआ वह यह मोचे—“यदि आचार्य और माधु भूमि पर अनुग्रह करें, मेरा भोजन गहण करें तो मैं वन्य हो जाऊं।” फिर प्रेमपूर्वक माध्यमिक मूलियों को भोजन के लिए निर्मित्रण करे। उसके निर्मित्रण को स्वीकार कर जो मुनि भोजन करना चाहे तो उनके माध्य भोजन करे। यदि कोई निर्मित्रण स्वीकार न करे तो अकेला ही भोजन करे।^१

मुनि खुले पात्र में भोजन करे। भोजन करते समय नीचे न ढाले।^२ अरस या विरस, आद्र् या शृङ्क, व्यंजन-सहित या व्यंजन-रहित जो भी आहार भिक्षा मे उपलब्ध हो, उसे मुनि मधु-वृत्त की भाँति खाए। उसकी निन्दा न करे।^३

पात्र को पोष्णकर सब कुछ खा ले, जूँन न छोड़े।^४ दूसरे संविभाग न के ले—इसलिए भिक्षा को न छापाए।^५ एकाल में अच्छा-अच्छा भोजन कर अपना उत्कर्ष दिखाने के लिए भाँड़ली में विरस आहार न करे।^६

१—दशवैकालिक, ४।१।८७-९६।

२—वही, ४।१।९६।

३—वही, ४।१।९७-९८।

४—वही, ४।२।१।

५—वही, ४।२।३।

६—वही, ४।२।३३-३४।

मुनि एक बार भोजन करे।^३ अप्राप्तुक भोजन न करे।^४ भोजन में गद्द न बने।^५ मुनि मात्रज्ञ—भोजन की मात्रा को जानने वाला हो। इसका तात्पर्य है कि वह प्रकाम-भोजी न हो। औपरातिक सूत्र में मुर्गी के अप्हे जितने बत्तीस कबल के आहार को प्रमाण प्राप्त भोजन कहा गया है। जो इस मात्रा से एक कबल भी कम खाता है, वह प्रकाम-रस-भोजी नहीं होता।^६ भोजन की मात्रा के सम्बन्ध में आशुर्वद का अभिमत यह है—उदर के बार भाग (कल्पना) करे—इसमें से दो भाग अन से और एक भाग द्वय-पदार्थ से भरे। बात आदि के आश्रय के लिए चतुर्थ भाग को छोड़ देवे (पूरा पेट भर कर के भोजन न करे, भोजन की गति के लिए स्थान रहने देना चाहिए)।^७

१—शब्देकालिक, ६।२२।

२—वही, ६।२३।

३—वही, ६।२३।

४—३० १९।

५—माटांगहृषय, सुखस्वाम, ६।४६-४७ :

अनेन कुलेष्टिवंसो पानेनेकं प्रपूरयेत् ।

आथये पश्चात्तादीनो चतुर्थस्वरोधवत् ॥

६-इन्द्रिय और मनोनिप्रह

- दशवैकालिक में इन्द्रिय और मन को जीतने के लिए निम्न उपाय प्राप्त होते हैं
१. जिसके प्रति राग उत्पन्न हुआ हो उसके प्रति यह चिन्तन करे—वह भेरी नहीं है, मैं भी उसका नहीं हूँ—इस भेद-चिन्ता से राग दूर होता है ।^१
 २. राग निवारण के लिए मुनि आतापना के (सूर्य का नाप सहे), मुकुमारता को छोड़े, इच्छाओं का अनिक्रमण करे, द्वेष और राग में बचे ।^२
 ३. मन, वाणी और शरीर का गोपन करे, पाँच इन्द्रियों का निपाह करे ।^३
 ४. जो पृथ्य-पाप और बन्ध-मोक्ष को जान लेता है, वह भोग में विरक्त हो जाता है इमण्डि उड़े जाने ।^४
 ५. रूप में मन न करे ।^५
 ६. कर्णप्रिय शब्दों में आसन न बने ।^६
 ७. कल्पुष की भौति इन्द्रियों का गोपन करे ।^७
 ८. मनोज विषयों में प्रेम न करे ।^८
 ९. स्वाध्याय और ध्यान में रन रहे ।^९
 १०. ममकार का विमर्जन करे ।^{१०}
 ११. इन्द्रियों को जीते ।^{११}
 १२. चित्त को समाधान दे ।^{१२}
 १३. मन का संवरण करे ।^{१३}
 १४. इन्द्रियों को समाधान दे ।^{१४}

१-दशवैकालिक, २१४ ।

२-वही, २१५ ।

३-वही, ३११ ।

४-वही, ४। १६ ।

५-वही, ८। १९ ।

६-वही, ८। २६ ।

७-वही, ८। ४० ।

८-दशवैकालिक, ८। ५८ ।

९-वही, ८। ६२ ।

१०-वही, ८। ६३ ।

११-वही, ९। ३। १३ ।

१२-वही, १०। १ ।

१३-वही, १०। ७ ।

१४-वही, चूलिका २। १६ ।

७-स्थिरीकरण

जन-दीक्षा अखण्ड और अविभक्त होती है। उसमें काल का भी व्यवधान नहीं होता। वह आजीवन प्रहण को जाती है। जीवन के इस दीर्घ-काल में साधना-भाव के आगोह-अवरोह को अस्वामाविक नहीं माना जा सकता। अवरोह जनादेश अवश्य है, पर मानवीय दुर्बलताओं के कारण वह प्रगट होना है और साधना की तीव्रता में वह मिट जाता है। जब साधना में पलायन करने के भाव उत्पन्न होते हैं तब साधक को किन-किन अवलम्बनों के द्वारा अपनी साधना में स्थैर्यपादन करना चाहिए, उन्हीं का निर्देश यहाँ किया गया है। वे अवलम्बन १८ हैं। साधक को इस प्रकार भोचना चाहिए कि—

१. इस कलिकाल में आजीविका चलाना अत्यन्त कष्ट-प्रद है।
२. गृहस्थों के काम-भोग तुच्छ और क्षणभंगर है।
३. मांसारिक मनस्य माया-प्रधान है।
४. मेरा यह दुख विराम्यायी नहीं होगा।
५. गृहस्थों को नीच व्यन्तियों का भी सत्कार-सम्मान करना पड़ता है।
६. मंयम को छोड़ गृहस्थ बनने का अर्थ है वर्मन को पीना।
७. मंयम को छोड़ गृहस्थ बनने का अर्थ है नारकीय जीवन की स्वीकृति।
८. गाहर्मिथक भंगभट्टी में धर्म का स्पर्श दुर्लभ है।
- ९-१०. मंकलम और आतंक वब के लिए होता है।
११. गृहवास क्लेश-सहित है और मुनि-पर्याय क्लेश-रहित।
१२. गृहवास बन्धन है और मुनि-पर्याय मुक्ति।
१३. गृहवास मावद्य है और मुनि-पर्याय निरवद्य।
१४. गृहस्थों के कामयोग सब-सुलभ है।
१५. मुख या दुख अपना-अपना होता है।
१६. मनुष्य जीवन चंचल है और अनित्य है।
१७. मैंने इससे पूर्व भी अनेक पाप किए हैं।
१८. कर्म को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता।

८-किसलिए ?

१. महर्षि—मुनि सब दुखों को क्षीण करने के लिए प्रयत्न करे।^१
२. मुनि पाँच महाव्रतों को आत्महित के लिए स्वीकार करते हैं।^२
३. मुनि विनय का प्रयोग आचार-प्राप्ति के लिए करते हैं।^३
४. मुनि केवल जीवन-यापन के लिए भिक्षा लेते हैं।^४
५. मुनि बस्त्र-पात्र आदि का ग्रहण और उपयोग जीवन के निर्वाह के लिए तथा लज्जा निवारण के लिए करते हैं।^५
६. मुनि वचन-प्रदाहर आदि को अपना धर्म—कर्तनव्य समझ कर महन करते हैं।^६
७. मुनि जान-प्राप्ति के लिए अध्ययन करते हैं, एकाग्र-चिन होने के लिए अध्ययन करते हैं, आत्मा को (धर्म में) स्थापित करने के लिए अध्ययन करते हैं और दूसरों को (धर्म में) स्थापित करने के लिए अध्ययन करते हैं।^७
८. मुनि भौतिक सूल-सूविधा के लिए तप नहीं करते, परलोक कीस मृद्दि के लिए तप नहीं करते इलाधा-प्रशंसा के लिए तप नहीं करते, केवल आत्म-शृदि के लिए तप करते हैं।^८
९. मुनि इहलोक की भौतिक समृद्धि के लिए आचार का पालन नहीं करते।
मुनि परलोक की समृद्धि के लिए आचार का पालन नहीं करते।
मुनि इलाधा-प्रशंसा के लिए आचार का पालन नहीं करते।
मुनि केवल आत्म-शृदि के लिए आचार का पालन करते हैं।^९

१—वस्त्रकालिक ३११३।

२—बही, ४४०१७।

३—बही, ११३१२।

४—बही, ११३१४।

५—बही, ६११९।

६—बही, ११३१८।

७—बही, ११४४० ५।

८—बही, ११४४० ६।

९—बही, ११४४० ७।

१०. मुनि अनुत्तर गुणों तथा अनन्त हृत के सम्पादन के लिए गुरु की आराधना करते हैं।^१
११. सब जीव जीना चाहते हैं, बरता कोई नहीं चाहता, इसलिए मुनि प्राण-बध का वर्जन करते हैं।^२
१२. मूर्खावाद सज्जन व्यक्तियों द्वारा गर्हित है और यह अविश्वास को उत्पन्न करता है, इसलिए मुनि मूर्खावाद का वर्जन करते हैं।^३
१३. अज्ञानचर्य अधर्म का मूल है, महान् दोषों की स्थान है, इसलिए मुनि उसका वर्जन करते हैं।^४
१४. रात्रि में एषणा का निर्वाह नहीं हो सकता, ईर्षा-समिति का शोधन नहीं हो सकता, इसलिए मुनि रात में भोजन नहीं करते।^५

१—वर्णोकालिक, ११११६; ११२१६।

२—यही, ६११०।

३—यही, ६११२।

४—यही, ६११६।

५—यही, ६१२३-२५।

६-विनय

दशबैकालिक के अध्ययन ६ के प्रथम उद्देशक में शिष्य का आचार्य के प्रति केसा वर्णन हो इसका निष्पत्ति है। द्वितीय उद्देशक में विनय और अविनय का भेद विखलाया गया है। चतुर्थ उद्देशक में विनय-ममाधि का उल्लेख किया गया है। अन्यत्र भी विनय का उपदेश है। सब का सार इन प्रकार है—

बड़ो का विनय करे।^१ गुरु को मन्द, अल्प-वयस्क या अल्पश्रृत जान कर उनकी आशानना न करे।^२ मठा गुरु का कृपाकाशी बना रहे।^३ जिसमें धर्म-पद मीण उमका विनय करे मत्कार करे, हाथ नोडे।^४ जो गुरु विशेष-स्थलों की अनुशासना दे, उसकी पूजा करे।^५ गुरु की आराधना करे, उहे मन्तुल रखें।^६ मोर्धार्थी मूर्ति गुरु के वचनों का अनिक्रमण न करे।^७ गुरु से नीचा बढ़े, नीचे खड़ा रहे नीचे आमन विद्धाग, नीचे भक्त कर प्रणाम करे।^८ गुरु के उपकरणों या जरीर का ग्रन्थ न करे। गोना हो जाने पर नत्काल क्षमा-याचना करे और पुन गोमा न करने वा मक्तप करे। गुरु के अभिशाय और दृग्मिति को समझ कर वरने।^९ गुरु के समीप रहे। गुरु के अन्यायाम को भ्रष्टाप्त्वक मुने। अन्यायाम को भ्रष्टा में स्वंकार करे। गुरु के प्रार्थणानमार वरने। अभिमान न करे।^{१०}

१—दशबैकालिक, ८।४०।

२—बही, ९।१।२।

३—बही, ९।१।१०।

४—बही, ९।१।१२।

५—बही, ९।१।१३।

६—बही, ९।१।१६।

७—बही, ९।२।१६।

८—बही, ९।२।१७।

९—बही, ९।२।१८।

१०—बही, ९।२।२०।

११—बही, ९।४८०।

१०-पूज्य कौन ?

पूज्य कौन ? यह प्रश्न महाभारत-कालीन है। युधिष्ठिर ने भीम से पूछा था—
‘के पूज्या वै त्रिलोकस्मिन् मानवा भरतर्वम् ।’ (महा० अनु० ३११)

उत्तर में गणवान् बाह्यण को पूज्य बताया गया है। उत्तर जाति की महत्ता का मूलक है।

दशवेकाण्डिक में पूज्य के गृण और लक्षणों का बड़ा मुन्दर विवेचन हुआ है। इसके अन्तर्मार गणवान् भनूष्य ही पूज्य है। पूज्य कौन ? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है—
पूज्य वह होता है :

जो आचार्य का शश्या करता है, उनकी आग्रहना करता है।

जो आचार्य के वचनानकल आचरण करता है।

जो गण की आशानना नहीं करता।

जो छोटे या बड़े—मबके प्रति विनम्र रहता है।

जो कंबल जीवन-निर्वाह के लिए उच्छ्र भिक्षा लेता है।

जो अन्य-इच्छा वाला होता है, आवश्यकता में अधिक नहीं लेता।

जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति को अपना धर्म मान कर महता है।

जो पर-निन्दा और आत्म-खलाधा से दूर रहता है।

जो रस-लोलुप नहीं होता, जो माया और कुनूहल नहीं करता।

जो न दीन बनता है और न उत्कर्ष दिखाता है।

जो आत्मवित् है—आत्मा को आत्मा से समझता है।

जो राग, होष, कोष, मान आदि से दूर रहता है।

जो दूसरों के विकास में सतत प्रयत्नशील रहता है।

जो मुक्त होने के लिए साधना-रत रहता है।^१

११-भिक्षु कौन ?

भिक्षु कौन ? यह प्रश्न वैदिक, बौद्ध और जैन —तीनों संस्कृतियों में अपनी-अपनी परम्परा और दृष्टिकोण से चर्चित है। वैश्वेकालिक में इसका उत्तर ये हुए कहा है—
भिक्षु कह होता है :

जो वमन किए हुए भोगों को पुन नहीं पीता—स्वीकार नहीं करता।

जो स्थावर या त्रस—किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता।

जो सभी प्राणियों को आत्म-नुल्य समझता है।

जो अकिञ्चन, जितेन्द्रिय और आत्म-जीन होता है।

जो अहंत-बचन में विश्वास करता है।

जो सम्यग्-दृष्टि होता है।

जो अमूढ़ होता है।

जो खान-पान का सम्ब्रह नहीं करता।

जो सविभागी होता है।

जो सदा शान्त और प्रसन्न रहता है।

जो दूसरों का तिरस्कार नहीं करता।

जो सुख-दुःख में सम रहता है।

जो शरीर का परिकर्म नहीं करता।

जो सहिष्णु, अनिदान और अभय होता है।

जो अध्यात्म में रत और समाधि-युक्त होता है।

जो किसी भी वस्तु में ममत्व नहीं करता।

जो समस्त आसक्तियों से रहित होता है।

जो छह्डि, सत्कार और पूजा का अर्ची नहीं होता।

जो जाति, रूप, श्रूत और ऐश्वर्य का मद नहीं करता।

जो व्यान और स्वाव्याय में लीन होता है।'

१२—मुनि के विशेषण

दशवेकालिक में मुनि के लिए अनेक विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। वे सब मुनि के मानसिक, वाचिक और कायिक संयम के निर्देशक हैं। कुछ एक विशेषणों से तात्कालिक स्थितियों पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

दसवें अध्ययन में 'निर्जीतस्परजत'—यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है।

असारि ब्रह्म सद्या कलाए, भुवर्भोगी य ह्येष्य बुद्धवश्ये ।

अहं निकायकरणेऽग्निहितोगं परिवर्जयेऽग्ने स निष्ठू ॥ (१०१६)

इसका अर्थ है कि मुनि सोना-चाँदी का संचय न करे। उस समय कई अमण सोना-चाँदी का संचय भी करने लग गए थे। कई अमण इस प्रवृत्ति को धर्म-सम्मत नहीं मानते थे।

चूल्लबन्ना में उन दस बातों का वर्णन है, जिन्हें बज्जी के भिन्न करते थे, पर यश की मान्यता भी कि वे धर्म-सम्मत नहीं हैं। उन दस बातों में 'ज्ञातस्परजतम्' का भी उल्लेख हुआ है। भिन्न जिनानन्द ने उन दस बातों की चर्चा करते हुए लिखा है—

"चूल्लबन्ना में लिखा है कि बज्जी के भिन्न दस बातें (दस बत्थूनि) ऐसी करते थे जिन्हें काकण्डकपुत्र यश धर्म-सम्मत नहीं मानता था। वह उन्हें अनेतिक और अवभैपूर्ण मानता था। बज्जी के भिन्नों ने यश को 'पदिसारणीय कम्म' का दण्ड देने का आदेश दिया। यश को अपना पक्ष समर्थन करना पड़ा। जनसाधारण के सामने उसने अपनी बात अद्वृत वक्तुत्व-कौशल से रखी। इस पर बज्जीयों ने 'उपेक्षणीय कम्म' नामक दण्ड उसे सुनाया, जिसका अर्थ था यश का संघ से निष्कासन।

उपर्युक्त दस बत्थूनि चूल्लबन्ना में इस प्रकार से दी गई हैं :

१. सिंगिलोन कण्ण—अर्थात् एक खाली सींग में नमक ले जाना। यह शास्त्रितय ३८ के विषय कर्त्ता था, जिसके अनुसार खाली सींग नहीं करना चाहिए।

२. द्वांगुल कर्य—जब आया दो अंगुल चौड़ी हो तब भोजन करता। यह पारित्य ३७ के विरुद्ध कर्म था, जिसके अनुसार मध्यान्ह के बाद भोजन निषिद्ध था।
 ३. गामन्तर कर्य—एक ही दिन में दूसरे बाँध में जाकर दुबारा भोजन करता। यह पारित्य ३५ के विरुद्ध कर्म था, जिसके अनुसार अतिभोजन निषिद्ध था।
 ४. आवास कर्य—एक ही सीमा में अनेक स्थानों पर उपोसथ विधि करता। यह महावना के नियमों के विरुद्ध था।
 ५. अनुष्ठित कर्य—किसी क्रम को करने के बाद उसके लिए अनुष्ठित प्राप्त कर लेना। यह भी भिक्षु-वासन के विरुद्ध था।
 ६. आचिन्य कर्य—हठियों को ही शास्त्र मान लेना। यह भी उपर्युक्त कोटि का कर्म था।
 ७. अभवित कर्य—भोजन के बाद आश्रा पीना। यह पारित्य ३५ के विरुद्ध था, जिसके अनुसार अतिभोजन निषिद्ध था।
 ८. जलोगिम्बानुम्—ताड़ी पीना। यह पारित्य ५१ के विरुद्ध था, जिसके अनुसार मादक पेय निषिद्ध था।
 ९. अदसकम्-निशिदानम्—जिसके किनारे न हो ऐसे कम्बल या रजाई का उपयोग करना। यह पारित्य ८६ के विरुद्ध था, जिसके अनुसार बिना किनारे की चादर निषिद्ध थी।
 १०. जातरूपरज्ञतम्—सौने और चौड़ी का स्वीकार करना। यह निस्सम्बिद्ध पारित्य के १८वें नियम के अनुसार निषिद्ध था।
भद्रन् यश ने ये सब व्यवहार अपर्याप्त बतलाए। उन्हे सब से बहिकृत कर दिया गया।^{१३}
- दशबोकालिक में भिक्षु के ६२ विशेषण प्राप्त होते हैं, जिनकी सन्दर्भ-निहित तालिका इस प्रकार है—
-
- १-वीढ़ चर्च के २५०० लर्ड, "जात्रकल" का वार्षिक अंक लिप्पत्व, १९५६
पृष्ठ ३०-३१।

- | | |
|----------------------------------|-----------------------------------|
| १—महर्षि-महेशी । (३११०) | ३२—विताशन । (८१२६) |
| २—परिक्षातपर्वतामूर्ति । (३१११) | ३३—अनलस । (८१४२) |
| ३—त्रिगुप्त । | ३४—जितेन्द्रिय । (८१४४) |
| ४—पंचनिप्रहण । | ३५—आलीनगुप्त । „ |
| ५—धीर । | ३६—दुर्खसह । (८१६३) |
| ६—निर्वन्ध । | ३७—अमय । „ |
| ७—कश्युदर्शी । | ३८—अकिञ्चन । „ |
| ८—लघुभूतविहारी । (३११०) | ३९—आचारवान् । (६११३) |
| ९—संयत । (३११२) | ४०—सुस्थितात्मा । „ |
| १०—मुममाहित । „ | ४१—अनावाघसुखाभिकांक्षी । (६१११०) |
| ११—दानपरिवहिण्यु । (३११३) | ४२—निर्देशवर्ती । (६१२१२३) |
| १२—धृतमोह । | ४३—सूक्ष्मार्थमर्मी । „ |
| १३—सर्वभूतमभूत । (४१६) | ४४—जिनमत-निपुण । (६१३११५) |
| १४—पिरहनामूर्ति । | ४५—अभिगमकुशल । „ |
| १५—दान । | ४६—निर्जातकृपरजत । (१०१६) |
| १६—सुप्रणिहितेन्द्रिय । (५१२१५०) | ४७—सम्यग्विष्टि । (१०१७) |
| १७—नीव्रलज्जा गुणवान् । „ | ४८—अमृढ । „ |
| १८—निभृत । (६१३) | ४९—संयमध्रुवयोगयुक्त । (१०११०) |
| १९—सर्वभूतसुखावह । „ | ५०—उपराजन । „ |
| २०—धर्मार्थाकाम । (६१४) | ५१—अविहेठक । „ |
| २१—विपुलस्थानभागिन् । (६१५) | ५२—कृत्सुष्टत्यक्तव्येह । (१०११३) |
| २२—अमोहदर्शी । (६१६७) | ५३—अनिहान । „ |
| २३—स्वविद्यविद्यानुशत । (६१६८) | ५४—अकौतूहल । „ |
| २४—मुच्छजीवी । (८१२४) | ५५—अध्यात्मरत । (१०११५) |
| २५—क्षेत्रवृत्ति । (८१२५) | ५६—मुसमाहितात्मा । „ |
| २६—मुसर्तुष्ट । | ५७—सर्वसंगापगत । „ |
| २७—अल्पेष्व । | ५८—स्थितात्मा । (१०११७) |
| २८—मुभर । | ५९—धर्मव्यानरत । (१०१११) |
| २९—अतितिण । (८१२६) | ६०—अमर्यमांसाशी । (८००२१७) |
| ३०—अचपल । | ६१—अमत्सरी । „ |
| ३१—अल्पमाली । „ | ६२—प्रतिकुरुजीवी । (१०१४) |

१३—मोक्ष का क्रम

जेन साधना-पद्धति जीव-विज्ञान से प्रारम्भ होती है और आत्म स्वरूप-प्राप्ति में पर्यावरित हो जाती है। साधना का बाधार संयम है। वह जीव और अजीव के विवेक ज्ञान पर आधारित है। जो जीव-अजीव को जानता है, वह संयम को जानता है और जो इहे नहीं जानता, वह संयम को भी नहीं जानता। इसमें इसी क्रम से मोक्ष तक के मार्ग को स्पष्ट किया है, वह यो है—^१

- १—जीव और अजीव का ज्ञान।
- २—जीवों की मति का ज्ञान।
- ३—बन्धन और मुक्ति का ज्ञान।
- ४—मोक्ष-विरति।
- ५—आम्भन्तर और बाह्य-संयोगों का परिचय।
- ६—अनगार-दृष्टि का स्वीकरण।
- ७—संवर की साधना।
- ८—आत्म-गुणावरोधक कर्मों का निर्यूलन।
- ९—केवलज्ञान और केवलदर्शन की संप्राप्ति।
- १०—योग-निरोध—शालेशी अवस्था की प्राप्ति।
- ११—सम्पूर्ण कर्म-क्षय।
- १२—शास्त्रत सिद्ध-अवस्था की प्राप्ति।^१

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय ५

छ्याइया-प्रन्थों के संबंध में

१—व्याख्या-ग्रन्थ परिचय

दशबंदकालिक की प्राचीनतम व्याख्या निर्युक्ति है। उसमें इसकी रचना के प्रयोजन, नामकरण, उद्दरण-स्थल, अध्ययनों के नाम, उनके विषय आदि का संकेत में बहुत मुन्दर वर्णन किया है। यह ग्रन्थ उत्तरवर्ती सभी व्याख्या-ग्रन्थों का आधार रहा है। यह पद्यात्मक है। इसकी गाथाओं का परिमाण टीकाकार के अनुसार ३७१ है। इसके कर्ता द्वितीय भद्रबाह माने जाते हैं। इनका काल-मान विक्रम की पूँबंवी-छठी शताब्दी है।

इसकी दूसरी पद्यात्मक व्याख्या भाष्य है। चूर्णिकार ने भाष्य का उल्लेख नहीं किया है। टीकाकार भाष्य और भाष्यकार का अनेक स्थलों में प्रयोग करते हैं।^१ टीकाकार के अनुसार भाष्य की ६३ गाथाएँ हैं। इसके कर्ता की जानकारी नहीं है। टीकाकार ने भी भाष्यकार के नाम का उल्लेख नहीं किया है।^२ वे निर्युक्तिकार के बाद और चूर्णिकार में पहले हुए हैं।

हरिमद सूरि ने जिन गाथाओं को भाष्यकर माना है, वे चूर्ण में हैं। इससे जान पड़ता है कि भाष्यकार चूर्णिकार के पूर्ववर्ती हैं।

इसके बाद चूर्णियाँ लिखी गई हैं। अभी दो चूर्णियाँ प्राप्त हैं। एक के कर्ता अगस्त्यसिंह स्थविर है और दूसरी के कर्ता जिनदास महत्तर (बिं० की ३ वी शताब्दी)। मूल श्री पुष्पविजयजी के मतानुसार अगस्त्यसिंह चूर्ण का रचनाकाल विक्रम की तीसरी शताब्दी के आस-पास है।^३

१—(क) हारिमदीय टीका, पत्र ६४ :

भाष्यकृता पुष्पविजयस्त इति ।

(ख) वही, पत्र १२० :

आह च भाष्यकारः ।

(ग) वही, पत्र १२८ व्याख्यार्थस्तु भाष्यावचसेयः । इसी प्रकार भाष्य के प्रयोग के लिए देखें— हारिमदीय टीका, पत्र १२५, १२६, १२९, १३३, १३४, १४०, १६१, १६२, २७८ ।

२—हारिमदीय टीका, पत्र १३२ :

एतामेव निर्युक्तिगाथा लेखतो व्याख्यासुराह भाष्यकारः । ... एतदपि विलक्षणादिवाचारकमिति निर्युक्तिगाथावामसुक्षमतम्युतां सूक्ष्मचिद्या भाष्यकारेभेति भाष्यार्थः ।

३—पूर्वतत्त्व भाष्य, भाग—६, भासुर शुल्क ४ ।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने अपनी चूणि में तत्वार्थसूत्र, आवश्यक निर्दुर्लिङ्ग, ओष्ठनिर्दुर्लिङ्ग, व्यवहार भाष्य, कल्प भाष्य आदि प्रन्थों का उल्लेख किया है। इनमें अन्तिम रचनाएं भाष्य हैं। उनके रचना-काल के आधार पर अगस्त्यसिंह का समय पुनः अन्वेषणीय है।

अगस्त्यसिंह ने पुस्तक रचने की औरसर्विक और आपबादिक—इनों विषयों की चर्चा की है।^१ इस चर्चा का आरम्भ देवद्विगणी ने आगम पुस्तकारूढ़ किए तब या उसके आस-पास हुआ होगा। अगस्त्यसिंह यदि देवद्विगणी के उत्तरवर्ती और जिनदास के पूर्ववर्ती हो तो इनका समय विक्रम की ५वीं-६ठी शताब्दी हो जाता है।

इन चूणियों के अतिरिक्त कोई प्राकृत व्याख्या और रही है पर वह अब उपलब्ध नहीं है। उसके अवधेय हरिभद्र मूरि की टीका में मिलते हैं।^२

प्राकृत युग समाप्त हुआ और मंस्कृत युग आया। आगम की व्याख्याएँ मंस्कृत

१—दशवेकालिक, ११। अगस्त्य चूणि :

उवगशगसंजमो—योत्पाण्तु घोषेत्तु असंजमो महावचनमोत्सेतु वा द्रूसेतु, बल्क्षण तु संजमो, कालं पद्मुच्च चरकरणहुं अष्टोऽछिसिनिमितं गेहृतत्त्वं संजमो भवति ।

२—हारिमहीय टीका, पत्र १६५ :

तथा च वृद्धव्याख्या—वेसादिगमयमावस्तु मेहुणं पीडिण्डाह, अनुवलोगेण एसना-करणे हिंसा, पद्मुपायणे अन्नपुच्छणमवलवणा उत्पत्तिवयणं, लग्नपुण्णायवेसाद्वाहंसने अवस्तादार्थं, भ्रमत्करणे परिण्यहो, एवं सञ्चवयपीडा, बल्क्षसामने पुण्ड संसयो उच्चिष्ठमणेण त्ति ।

जिनदास चूणि (पृष्ठ १७१) में इस आशय की जो पंसिल्लों है, वे इन पंसिल्लों से भिन्न हैं। जेसे—“अह उच्चिष्ठमह तो सञ्चवया पीडिया, भ्रमति, अहिं ण उच्चिष्ठमह तोषि तामायमाणसस्तु भावाद्वा मेहुणं पीडियं भवह, तामाय-भावाद्वो य एतनं न रक्षाह, तत्प याचाहावपीडा भवति, जोएमादो पुच्छिण्डाह—कि जोएसि ?, ताहे अवलवण, ताहे मुसावायपीडा भवति, तादो य तिस्यगरेहि याचुण्णायाउत्सिक्काउं अविण्णादालपीडा भवह, तानु य भ्रमत्वं करेतस्तु परिण्डाहपीडा भवति ।”

अगस्त्य चूणि की पंसिल्लों इस प्रकार हैं—तत्प याचाह तानु गमकित्वो रियं न सोहेतिति याचातिकातो पुच्छितो कि जोएसिलि ? अवलवणति मुसावातो, अवस्तादालमयनुण्णातो तिस्यकरेहि निहुते यि भवताद्वो मुक्ताए परिण्यहो वि ।

भाषा में लिखी जाने लगी। इस पर हरिभद्र सूरि ने संस्कृत में टीका लिखी। इनका समय विक्रम की आठवीं शताब्दी है।

यापनीय संघ के अपराजित सूरि (या विजयाचार्य—विक्रम की आठवीं शताब्दी) ने इस पर 'विजयोदय' नाम की टीका लिखी। इसका उल्लेख उन्होंने स्वरचित आराधना की टीका में किया है।^१ परन्तु वह अभी उपलब्ध नहीं। हरिभद्र सूरि की टीका को आधार मान कर तिलकाचार्य (विक्रम की १३-१४ वीं शताब्दी) ने टीका, माणिक्यशोलर (१५ वीं शताब्दी) ने निर्युक्ति-दीपिका तथा समयमुन्दर (विक्रम की १६११) ने दीपिका, विनयहस (विक्रम सं० १५७३) ने वृत्ति, रामचन्द्र सूरि (विक्रम सं० १६७०) ने वार्तिक और पायचन्द्र सूरि तथा घर्मसिंह मुनि (विक्रम की १८वीं शताब्दी) ने गुजराती-राजस्थानी मिश्रित भाषा में टट्ट्वा लिखा। किन्तु इनमें कोई उल्लेखनीय नया चिन्तन और स्पष्टीकरण नहीं है। ये सब सामयिक उपयोगिता की दृष्टि से रखे गए हैं। इसकी महत्वपूर्ण व्याख्याएं तीन ही हैं—दो चूर्णियाँ और तीसरी हरिभद्रीय वृत्ति।

१—भाषा ११९७ की वृत्ति:

दशत्रेकालिकटीकाचार्य और विजयोदयाचार्य प्रवंचिता उद्गमाविदोषा इति नेह
प्रस्तुते।

२—द्यास्यागत प्राचीन परम्पराएं

दसवेंकालिक के व्याख्या-ग्रन्थों में अनेक प्राचीन परम्पराओं का उल्लेख है। कुछ इस प्रकार हैं :

१—एक बार शिष्य ने पूछा—“जन-जामन में पौच महाव्रत प्रसिद्ध है तो किर गति-भोजन का वर्जन महाव्रतों के प्रकरण में क्यो ?” आचार्य ने कहा—“प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के तत्कालीन जन-मानस को इष्टि से ऐसी प्रस्थापना की गई है। प्रथम तीर्थंकर के काल में मनुष्य ऋजु-जह थे और अन्तिम तीर्थंकर के काल में वक-जह। इसीलिए इस द्वान को महाव्रतों के प्रकरणों में स्थापित कर दिया गया ताकि वे इसे महाव्रत के स्वप्न में मानते हुए इसका भंग न करें। ऐष बाईंस तीर्थंकरों के काल में यह उत्तर-ग्रन्थ की कोटि में था।”

शिष्य ने पूछा “यह क्यो ?” आचार्य ने कहा—‘‘मध्यवर्णी बाईंस तीर्थंकरों के काल में मनुष्य ऋजु-प्राज्ञ थे। वे गति-भोजन का महज भाव में परिलयग कर देते थे।’’

२—भिक्षा ग्रहण की विधि में भी स्वर्विर-कल्पिक और जिन-कल्पिक मूलियों में भिन्नता है। जिस स्त्री के गर्भ का नौवां मास चल गया हो, ऐसी काल-मासवर्ती स्त्री में स्वर्विर-कल्पिक मूलि भिक्षा ग्रहण कर लेते हैं परन्तु जिन-कल्पिक मूलि जिस दिन में स्त्री गर्भवर्णी होनी है, उसी दिन में उसके हाथ से भिक्षा लेना बन्द कर देते हैं।

३—स्ननजीवी बालक को स्नन-पान छड़ा स्त्री भिक्षा दे तो, बालक रोए या न रोए, गच्छवासी मूलि उसके हाथ में भिक्षा नहीं लेने। यदि वह बालक कोग स्ननजीवी न हो, दूसरा आहार भी करने लगा हो और यदि वह छोड़ने पर न रोए तो गच्छवासी मूलि उसकी माता के हाथ से भिक्षा ले सकते हैं। स्ननजीवी बालक चाहे स्नन-पान न कर रहा हो फिर भी उसे अलग करने पर रोने लगे उस स्थिति में भी गच्छवासी मूलि भिक्षा नहीं लेते।

गच्छ-निर्गत मूलि स्ननजीवी बालक को अलग करने पर, चाहे वह रोए या न रोए, स्नन-पान कर रहा हो या न कर रहा हो, उसकी माता के हाथ से भिक्षा नहीं लेने। यदि वह बालक दूसरा आहार करने लगा हो उस स्थिति में उसे स्नन-पान करते हुए को छोड़ कर, फिर चाहे वह रोए या न रोए, भिक्षा दे तो नहीं लेते और यदि वह स्नन-पान न

१—जिनदास चूणि, पृष्ठ १५३।

२—सही, पृष्ठ १८० :

जा पुण कालमासिकी पुष्टुष्टिया परिवेसेती य वेरकपिया गेहूंसि, विषकपिया पुण अद्विवसमेव आवनसत्ता भवति तस्रो दिवसामो आरद्दं परिवर्ति ।

कर रहा हो किर भी अलग करने पर 'रोए तो भी भिक्षा नहीं लेते । वदि न रोए तो वे भिक्षा ले सकते हैं ।'

शिष्य ने पूछा—“बालक को रोते छोड़ कर भिक्षा देने वाली गृहिणी से लेने में क्या दोष है ?” आचार्य ने कहा—“बालक को नीचे कठोर भूमि पर रखने से एवं कठोर हाथों से उठाने से बालक में अस्थिरता आती है । इससे परिताप दोष होता है । बिली आदि उसे उठा ले जा सकती है ।”

१-(क) अगस्त्य चूर्णि :

गच्छवासीण यणजीवी यज्ञं पियंतो निकिलतो रोबतु वा मा वा अग्नाहणं, अह अपिबंतो णिकिलतो रोबते (अग्नाहणं, अरोबते) गहणं, अह भतं पि आहारेति तं पिबते निकिलते रोबते अग्नाहणं, अरोबते गहणं । गच्छनिग्राताण यणजीविन्मि णिकिलते पिबते (अपिबते) वा रोबते (अरोबते) वा अग्नाहणं, भत्ताहारे पिबते निकिलते रोयमाणे अरोयमाणे वा अग्नाहणं, अपिबते रोयमाणे अग्नाहणं, अरोयमाणे गहण ।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ १८० :

तथ गच्छवासी जति यणजीवी णिकिलतो तो ण गेष्ट्हंति रोबतु वा मा वा, अह अन्मंपि आहारेति तो जति न रोबइ तो गेष्ट्हंति, अह अपियंतभो णिकिलतो यणजीवी रोबड तो ण गेष्ट्हंति, गच्छनिग्राया पुण जाव यणजीवी ताव रोबउ वा मा वा अपियंतभो पियंतिओ वा न गेष्ट्हंति, जाहे अन्मंपि आहारेतुं पयतो भवति ताहे जह पियंतभो तो रोबइ मा वा ण गेष्ट्हंति, अपियंतभो अदि रोबइ परिहूरंति अरोबते गेष्ट्हंति ।

(ग) हारिमद्वीय टीका, पत्र १७२ :

चूर्णि का ही पाठ यहाँ सामान्य परिवर्तन के साथ 'अत्रायं बृद्धसम्प्रदायः' कहकर उद्दृत किया है ।

२-(क) अगस्त्य चूर्णि :

एव दोसा—सुकुमालसरीरस स्वरेहि हस्तेहि सयणीए वा पीडा, मज्जारातीवा साणाकहरणं करेज्जा ।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ १८०-८१ :

सीसो आह—को तथ दोसोति ?, आयरिलो आह—तस्य निकिलप्यमाणस लरेहि हस्तेहि वेष्माणस य अपरिसंतणेण परिताकावोसो मज्जाराह वा अवधरेज्जा ।

(ग) हारिमद्वीय टीका, पत्र १७२ ।

(४) स्वविर-कल्पिक मुनि प्रमाण युक्त केश, नख आदि रखते हैं। जिन-कल्पिक मुनि के केश और नख दीर्घ होते हैं।

(५) अग्नि की भंड आँच से पकाया जाने वाला अपक्षयिष्ट एक प्रहर में परिणत होता है और तेज आँच से पकाया जाने वाला शीघ्र परिणत हो जाता है।

(६) कुहरा प्रायः शिशिर छह्नु—गर्भ मास में पढ़ा करता है।

१—जिनवास चूर्जि, पृष्ठ २३२ :

बीहारि रोमाणि कल्पावस्थगांधारीमु... बीहारि अस्त्रव्याङ्गयोगा, ज
छवांसि ते बीहा वारेडं, जिनकप्पियादीण बीहारि ।

३—आहार-चर्या

दशबोकालिक एक आचार-व्याख्या है, इसलिए उसके व्याख्या-ग्रन्थ उसी चर्यादा के प्रतिनिधि हों, यह अत्वाभाविक नहीं है। जो आचार-संहिताएँ बनती हैं, वे देश-काल और पारिपार्श्विक वातावरण को अपने-अपने कलेवर में समेटे हुए होती हैं। यही कारण है कि उनसे हमें मूल प्रतिपादा के साथ-साथ अन्य अनेक विषयों की जानकारी प्राप्त होती है। इतिहास-ग्रन्थ जैसे आचार-संहिताओं के परोक्ष-स्रोत होते हैं, वैसे ही आचार-ग्रन्थ इतिहास के परोक्ष स्रोत होते हैं। दशबोकालिक और उसके व्याख्या-ग्रन्थ ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं हैं किंतु भी उनमें भारतीय इतिहास के अनेक तथ्य उपलब्ध होते हैं। व्याख्या-कारों ने विषय का स्पर्श करते हुए अपने अध्ययन का प्रचुर उपयोग किया है। उनके बाहुभूत्य के साथ-साथ अनेक नवीन ज्ञान-स्रोत प्रवाहित हुए हैं।

निर्युक्तिकार और चूर्णिकार ने साधु को चर्या और कर्तव्य-विधि का जिस उदाहरण शेली में निरूपण किया है, वह रसात्मक ही नहीं, प्राणि-जगत् के प्रति हमारे दृष्टिकोण को कुशाश्रीय बनाने वाली भी है।

इस सूत्र के पहले अध्ययन का नाम 'द्रुम-पुष्पिका' है। इसमें मुनि आहार के से और कैसा ले—इन दो प्रश्नों का स्पष्ट निरूपण है। किन्तु वह आहार किसलिए के, कैसे खाए और उसका फल क्या है—इन प्रश्नों का स्पष्ट निरूपण नहीं है। निर्युक्तिकार ने इन स्पष्ट और अस्त्वित प्रश्नों का संक्षेप में बड़ी मार्मिकता से स्पर्श किया है। चूर्णि और टीका में निर्युक्तिकार के वक्तव्य को कुछ विस्तृत शेली में समझाया गया है। निर्युक्तिकार ने द्रुम-पुष्पिका अर्थात् मुनि की आहार-चर्या के चौदह पर्यावरणी नाम बतलाएँ हैं^१ :

१—द्रुम-पुष्पिका	८—सर्प
२—आहार-एवणा	९—वाय
३—सोवर	१०—अक्ष
४—त्वक्	११—तीर
५—उद्ध	१२—सोला
६—औष	१३—पुष्
७—बलूक	१४—उदक

१—दशबोकालिक निर्युक्ति, गाचा ३७।

इनमें १, २, ३, ५, ६, ७, ११ और १२ का विषय है—मुनि आहार कंसा ले और कंसे ले? ; ८ का विषय है—मुनि कंसे लाए? ; ६, १० और १३ का विषय है—मुनि किसलिए साए? और ४, १३, १४ का विषय है—भोजन करने का फल क्या है?

१. द्रुमपुष्टिका-

जिस प्रकार भ्रमर द्रुम के पुष्टि, जो अकृत और अकारित होते हैं, को म्लान किए बिना रस ग्रहण करता है, वैसे ही श्वसण भी अपने लिए अकृत और अकारित तथा गृहस्थों को कलान किए बिना, आहार ग्रहण करे।^१

२. आहार-एषणा

इसमें तीनों एषणाओं—गवेषणैषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा का ग्रहण किया है। मुनि उदगम के १६ दोष, उत्पादन के १६ दोष और एषणा के १० दोषों से रहित भिक्षा ले।^२

३. गोचर

एक वणिक के घर एक छोटा बछड़ा था। वह सबको बहुत प्रिय था। घर के सारे लोग उसकी बहुत सार-संभाल करते थे। एक दिन वणिक के घर जीमनबार हुआ। सारे लोग उसमें लग गए। बछड़े को न घास डाली गई और न पानी पिलाया गया। दुपहरी हो गई। वह भूल और घास के मारे रभाने लगा। कुल-वधु ने उसको सुना। वह घास और पानी को लेकर गई। घास और पानी को देख बछड़े की हाइ उन पर टिक गई। उसने कुल-वधु के बनाव और शृङ्खार की ओर ताका तक नहीं। उसके मन में विचार तक नहीं आया कि उसके रूप-रंग और शृङ्खार को देखे।

इसका सार यह है कि बछड़े की तरह मुनि भिक्षाटन की भावना से अटन करे। रूप आदि को देखने की भावना से चंचल चित्त हो गमन न करे।^३

४. त्वक् :

युण चार प्रकार के होते हैं—

- | | |
|-----------------|----------------|
| (१) त्वक्-खादक | (३) काष्ठ-खादक |
| (२) छत्तिल खादक | (४) सार-खादक |

१—जिनहास चूर्णि, पृष्ठ १२ :

जहा भमरो दुमपुक्फेहिते अकथमकारियं पुफं अकिलामेन्तो आहारेति, एवं अकथमकारियं निवर्धनं शिरह्याणं अपीलयं आहारं गेल्हृ।

२—वही, पृष्ठ १२ तथा दशवैकालिक (भा०-२), पृष्ठ १९४, १५, १६।

३—वही, पृष्ठ १२।

इसी प्रकार भिक्षु भी चार प्रकार के होते हैं :

- (१) कई भिक्षु त्वक् लादक होते हैं पर सार लादक नहीं ।
- (२) कई भिक्षु सार लादक होते हैं पर त्वक् लादक नहीं ।
- (३) कई भिक्षु त्वक् लादक होते हैं और सार लादक भी ।
- (४) कई भिक्षु न त्वक् लादक होते हैं और न सार लादक ।

जो भिक्षु त्वचा को खाने वाले धूण के समान होता है, उसके सार को खाने वाले धूण के समान तप होता है ।

जो भिक्षु सार को खाने वाले धूण के समान होता है, उसके त्वचा को खाने वाले धूण के समान तप होता है ।

जो भिक्षु छाल को खाने वाले धूण के समान होता है, उसके काठ को खाने वाले धूण के समान तप होता है ।

जो भिक्षु काठ को खाने वाले धूण के समान होता है, उसके छाल को खाने वाले धूण के समान तप होता है ।

५. उठानः :

मूल अज्ञात पिण्ड ले, पूर्व सूचना के बिना ले, जाति आदि का परिचय दिए बिना ले ।^१

६. मेषः :

जिस प्रकार मेष पानी को हिलाए-हुलाए बिना ही पी लेता है और अपनी प्यास बुझा लेता है, उसी प्रकार भिक्षा के लिए गया हुआ मूनि भी बीज, हरित आदि को लाँचते समय हलफल न करे । ऐसी कोई उतारबल न करे, जिससे दाता मूँह बन जाए । वह बीज आदि का अतिक्रमण करता हो तो उसे घर्ये से जताए, जिससे वह उनपर पैर भी न रखे और मूँह भी न बने ।^२

७. अलूकः :

जोकि असे मृदुता से रक्त लींच लेती है, वेसे ही अविश्व से देने वाले दाता के दोष का मृदु-वचनों से निवारण करे ।^३

१—जिन्हास चूर्णि, पृष्ठ १२ ।

२—यही, पृष्ठ १२ :

जहा मेतो अवामुगार्णितो पिवेति एवं साहृजावि भिक्षापिष्टेष वीर्यक्षमणादि च तद्वा हृलस्त्वादं कार्यं जहा भिक्षाए दाया मूढो भवद्, सो वा तेज वारेयस्तो जेव परिहर्ण ।

३—यही, पृष्ठ १२ ।

६. सर्प :

जिस प्रकार सर्प भट्ट से बिल में प्रविष्ट होता है, उसी प्रकार मुनि भी मुँह में किस कबल को स्वाद के लिए इवर-उवर घुमाए किना भट्ट से निकल जाए ।^१

७. द्रष्ट :

जिस प्रकार द्रष्ट को शान्त करने के लिए उम पर लेप किया जाता है, उसी प्रकार अवैर्य को शान्त करने — धृति की सुरक्षा के लिए मुनि आहार करे, रूप आदि को बढ़ाने के लिए नहीं ।^२

८. अक्ष :

जिस प्रकार यात्रा को निर्वाच-रूप से सम्पन्न करने के लिए गाड़ी के पहियों में तेल चुपड़ा जाता है, उसी प्रकार संयम-भार को वहन करने के लिए मुनि आहार करे ।^३

९. तीर :

जिस प्रकार गधिक आपने लक्ष्य में तन्मय होकर ही उसे बीध सकता है, अन्यथा नहीं, उसी प्रकार भिक्षा के लिए धृता हुआ मुनि भी संयम-लक्ष्य में तन्मय होकर ही उसे प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं । शब्द आदि विषयों में व्याक्षिप्त होकर वह संयम से स्वलिन हो जाता है ।^४

१०. गोला

लाल को यदि अग्नि के अत्यन्त निकट रखा जाए तो वह बहुत पिघल जाती है, उसका गोला नहीं बनाया जा सकता और यदि उसे अग्नि से अति दूर रखा जाए तो

१—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ १२ :

जहा सप्तो सरति बिले पवित्रति तहा साहृषा वि अनासादेतेज हृषुपं भत्सं-
र्तीर्ण आहारेयत्वं ।

२—बही, पृष्ठ १२-१३ :

जहा बण्डस मा कुट्टिहिति तो से मत्स्यं दिङ्गइ, एवं इमस्मवि जीवस्त मा
चितिक्षयं करेहिति तो से दिङ्गइ आहारो, च बण्डाइहेत ।

३—बही, पृष्ठ १३ :

जहा सण्डस्त जलासाहृष्टु अस्तमंगो दिङ्गइ, एवं संज्ञमन्तरहृष्टवं आहा-
रेयत्वं ।

४—बही, पृष्ठ १२ :

जहा रहिलो सम्बं विचिक्कामो लतुपत्तो विंश, विचात्तविस्तो फिट्ट,
एवं साहृषि उवरत्तो विस्त हिंकंतो संज्ञमन्तरहृष्टवं विंश, विचालन्तो सहाइएसु
फिट्ट ।

वह पिष्टली नहीं। ऐसी स्थिति में भी गोला नहीं बनाया जा सकता। लाख का गोला नभी बन सकता है जबकि उमे न अग्नि से अति दूर रखा जाए और न अति निकट। इसी प्रकार भिक्षा के लिए गया हुआ मुनि यदि अतिभूमि (भिज़ुओं के लिए यह मेरिधारित भूमि) से आने चला जाता है तो गृहस्वामी को अविद्यास हो सकता है, अप्रीति हो सकती है। यदि वह बहुत दूर बढ़ा रहता है तो पहली बात है कि हष्टिगोचर न होने के कारण उसे भिक्षा ही नहीं मिलती और दूसरी बात है कि गृहमय को देता है, उनकी एवणा नहीं हो पाती। इसलिए मुनि भिक्षा-भूमि की मर्यादा को जान कर उससे अनि दूर या अनि निकट न ठहरे, उचित स्थान पर ठहरे।^१

१३ पृत्र :

जैसे कोई पुरुष अस्यन्त अनिकायं स्थिति में अपने पुत्र का मांस खाता है—थव्य मार्खवाह ने अपनी 'पुत्री 'मुसुमा' का मांस केवल जीवित रह कर राजगृह पहुँचने के लिए खाया था, किन्तु वर्ण, स्वयं, बल आदि बढ़ाने के लिए नहो—वैसे ही मुनि निर्वाण-लक्ष्य की माध्यमा के लिए आहार कर किन्तु वर्ण, स्वयं आदि बढ़ाने के लिए नहो।^२

१४ उक्त

निम प्रकार एक वणिक् ने रस्तो की सुरक्षा के लिए अपेय जल पीया था, उसी प्रकार मुनि रत्नत्रयी—ज्ञान, दशंन और चारित्र—की सुरक्षा के लिए आहार करे।^३
तथा—

तृक्षों की यह प्रकृति है कि वे अपते अनुकूल ऋतु मे पुष्टिन होते हैं और उचित

१—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ १३ :

जहा जंतुमि गोलए कञ्जमाजे जह अग्निया अतिलियाविज्जइ ता अतिवच-
सणेन न सक्क फाउं, यह य नेवडलियाविज्जइ नो जेव निवरति, णातिहूरे
पातिकासणे अ कए सक्क बंधित, एवं मिक्कापविहो साहू जह अहम्मीए
विसइ हो तेसि अगारहृत्यार्थ अप्पसियं यवइ तेज य संक्षाविदोसा, यह द्वारे
तो न दीसइ एसजायाओ य मवह, तम्हा कुलस्त मूमि जागिता जाहम्हरे
वासणे ठाइयर्वन्।

२—वही, पृष्ठ १३।

३—वही, पृष्ठ १३।

काल में फल भी लेते हैं।^१ उसी प्रकार पचन-पाचन भी गृहस्थों की प्रकृति है। साथुं पचन-पाचन से दूर रहता है।^२

भ्रमर स्वाभाविक रूप से पुष्पित फूलों से रस लेकर अपने आपको तृप्त कर लेता है, वैसे ही श्रमण भी स्वाभाविक रूप से गृहस्थ के लिए बने हुए भोजन में से कुछ लेकर अपने आपको तृप्त कर लेता है।^३ जैसे—स्वभाव-कुसुमित इव्वर्णों को बाधा दिए बिना भ्रमर रस लेते हैं, उसी प्रकार श्रमण भी नागरिकों को बाधा दिए बिना, उनके (नागरिकों) लिए सहज बना हुआ भोजन लेते हैं।^४

१—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १०८ :

पगई एस दुमाण औं उउसमयम्मि आगाए संते ।

पुण्कंति पायवशना फसं च कालेण वंचति ॥

२—जिनवास दूर्जि, पृष्ठ ६८ ।

३—वही, पृष्ठ ६८ ।

४—वही, पृष्ठ ६८-६९ ।

४-मुनि कैसा हो ?

बनस्पति तथा प्राणि-जगत् के स्वभावों की विचिन्ता आज भी आस्वर्यकारक है और इनका स्वतंत्र अध्ययन अपने धार में महत्वपूर्ण है। निर्युक्तिकार और चूणिकार ने श्रमण के अनेक गुणों को स्पष्ट करने के लिए बनस्पति-जगत्, प्राणि-जगत् तथा अन्यान्य चर-अचर पदार्थों के गुणों को छुआ है और उनके माध्यम से श्रमण के जीवन को स्पष्ट करने का मुन्द्रतम प्रयास किया है। उन्होंने व्यावहारिक दृष्टान्तों से इस विषय को समझाया है, अत यह दुरुह विषय भी सरल बन गया है। इसके अध्ययन से श्रमण की वर्या, मानसिक विकास तथा चारित्रिक विकास का स्पष्ट प्रतिबिम्ब सामने आ जाता है। निर्युक्तिकार ने बारह उपमाओं द्वारा भिन्न का स्वरूप बतलाया है।^१ टीकाकार ने एक भिन्न कर्तुक गाथा को उद्धृत करते हुए श्रमण के लिए ग्यारह उपमाएँ प्रस्तुत की है।^२ उनमें कई पुनरुत्थ भी हैं।

१. वह सर्प जैसा हो :

यहाँ सर्प की तुलना तीन बातों से की गई है :

१. सर्प जैसे एकाघ-दृष्टि बाला होता है, वैसे ही मुनि भी धर्म में एकाघ-दृष्टि बाला हो।
२. सर्प जैसे पर-कृत बिल में रहता है, वैसे मुनि भी पर-कृत घर में रहे।^३
३. सर्प जैसे बिल में भट्ट से प्रविष्ट हो जाता है, वैसे मुनि भी आहार को भट्ट से निगल जाए।^४

१—दशवैकासिक निर्युक्ति, गाथा १५७ :

उरगगिरिजलग्नसागरलहृपत्तरणसमो य जो होई ।

ममरमिगगरिजललहृविषवणसमो जमो समनो ॥

२—हारिनीय टीका, पत्र द३ :

३—जिलदास चूर्णि, पृष्ठ ७२ :

जहा उरगतनेन होयर्वं, तत्व एगंतविहितवं धम्मं पमुच्च कायर्वं, परकड-वरिष्ठियालु वसहीसु वसितर्वं ।

४—अगस्त्य चूर्णि :

किलमिगपत्तग्नमूत्रेन अप्यानेन आहारविति जहा विल वन्नगं नासाएति ।

२. वह पर्वत जैसा हो :

जैसे पर्वत पदन से अप्रकम्पित होता है, उसी प्रकार मुनि भी कष्टों से अप्रकम्पित हो। किन्तु पर्वत की तरह जह और कठोर न हो।^१

३. वह अग्नि जैसा हो :

जैसे अग्नि इन्धन आदि से तृप्त नहो होती, उसी तरह मुनि भी ज्ञान से तृप्त न हो।

जैसे अग्नि जलाते समय—इसे जलाना चाहिए, इसे नहीं—यह भेद नहीं करती,^२ उसी प्रकार मुनि भी मनोज्ञ व अमनोज्ञ आहार में भेद न करे—राग-द्वेष न करे।

४. वह सागर जैसा हो :

सागर जैसे गम्भीर होता है, अथाह होता है, रक्तों का आकर होता है और मर्यादा का अनतिक्रमणकारी होता है, उसी प्रकार मुनि भी गम्भीर हो, अथाह हो, ज्ञान का आकर हो और मर्यादा का अनतिक्रमणकारी हो।

(किन्तु सागर की तरह खारा होने के कारण अमृतहर्णीय न हो)^३

१-(क) हारिमदीय दीका, पत्र द३ :

सिरिसमः परीष्वहृपवनाकम्प्यत्वात् ।

(म) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ७२ :

पञ्चय सरिसेष साधुणा होयत्वं, तस्य पुण पञ्चवस्त्र अण्णाणभावं लारभावं च
उम्फिऊलं तेजस्सित्वाणं परिगम्भह ।

२-जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ७२

जह वा सो अग्नि इंधणादीनि डहमाणे जो कत्वद विसेसं करेनि—इमं डहितव्यं
इमं वा अडहर्णीयं। एवं मणुष्णामणुष्णोसु अण्णाणाणविसु कासुएसणिज्जेसु रागो
बोतो वा न कायत्वो ।

३-(क) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ७२ :

सागरसरिसिण होयत्वं साहुणा, सो य गतीए लारत्वेण अपेयो न एयं वेष्यह,
किं तु जाणि य समुद्रस्त गंभीरतं लगाहत्वं व ताणि वेष्यति, कहं ? साहुणा
सागरो हब गंभीरेण होयत्वं, नामदंसचरित्वेहिंय अगाहेण भवितव्यं ।

(म) हारिमदीय दीका, पत्र द३ :

सागरस्तो गम्भीरत्वाणामादिरलाकरत्वात् स्वमर्द्दानतिक्रमात् ।

५. वह आकाश जैसा हो :

जैसे आकाश निश्चलप और निरालम्ब होता है, उसी प्रकार मुनि भी माता-पिता आदि में अलिस हो और स्वावलम्बी हो ।^१

६. वह वृक्ष जैसा हो :

जैसे वृक्ष पक्षियों के लिए आधारभूत होता है और छेदन-भेदन या पूजा करने पर समदृष्टि रहता है, उसी प्रकार मुनि भी मोक्ष-फल चाहने वालों के लिए आधारभूत हो और मानन-अपमान में सम हो ।^२

७. वह भ्रमर जैसा हो :

जैसे भ्रमर अनियत-वृत्ति वाला तथा अपनी भूख, देश और काल को जान कर बतने वाला होता है, उसी प्रकार मुनि भी अनियत-वृत्ति वाला तथा अपनी भूख, देश और काल को जानने वाला हो ।^३

८. वह मृग जैसा हो :

जैसे मृग सदा उद्विग्न—भयभीत रहता है, उसी प्रकार मुनि भी संसार के भय से सदा उद्विग्न हो, सदा अप्रसत हो ।^४

९. वह पृथ्वी जैसा हो :

जैसे पृथ्वी सभी स्पर्शों को समझाव से महती है, उसी प्रकार मुनि भी सभी स्पर्शों को समझाव से सहने वाला हो ।^५

१—जिनदास चूर्णि, पृ० ७२ ।

२—(क) हारिमद्वीप टीका, पञ्च च० ।

(क) जिनदास चूर्णि, पृ० ७२ ।

३—बही, पृ० ७२ ।

मन्त्रेण च अनियतवृत्तिभा भवितव्यं, कहं ? ममरो जहा एस चेव हेठा उदरं देसं कालं च नाऊण चरह, एवं साहृषाचि गोपरचरियावितु देसं कालं च बाऊण चरियव्यं ।

४—बही, पृ० ७२ ।

जहा मिगो गिञ्चुमिमो तहा गिञ्चकालभेद संसारमउच्चिलेण अपमलेण भवियव्यं ।

५—बही, पृ० ७२ ।

वरणी विव सम्भासवित्तेण साहृषा भवितव्यं ।

१०. वह कमल जैसा हो :

जैसे कमल कीचड़ मे उत्पन्न होता है, पानी मे समृद्ध होता है, फिर भी उनसे अलिम रहता है। उसी प्रकार मुनि भी काम से उत्पन्न हुआ, भोगो से बढ़ा, फिर भी उनसे अलिम हो।^१

११. वह सूर्य जैसा हो :

जैसे सूर्य तेजस्वी होता है और समस्त लोक को भेदभाव किए बिना प्रकाशित करता है, उसी प्रकार मुनि भी तेजस्वी हो तथा राजा और रंक का भेद किए बिना सबको समान रूप से धर्म का उपदेश देने वाला हो।^२ कहा भी है—जैसे बड़े आदमी को धर्म कहे वैसे ही तुच्छ को कहे और जैसे तुच्छ को कहे वैसे बड़े आदमी को कहे।

१२. वह पवन जैसा हो :

जैसे पवन अप्रतिबद्ध होता है—मुक्त होकर चलता है, उसी प्रकार मुनि भी अप्रतिबद्ध-विहारी हो।^३

१३. वह विष जैसा हो :

जैसे विष सर्व रसानुपाती होता है—सभी रसों को अपने मे समाहित कर लेता है, उसी प्रकार मुनि भी सर्व रसानुपाती हो—प्रिय-अप्रिय आदि सभी विषनियों को अपने में समाहित करने वाला हो। कहा भी है—

“हम मनुष्य हैं। न मित्र हैं और न परिणत, न मानी है और न घन-गर्वित। जैसे-जैसे लोग होते हैं, हम भी वैसे ही बन जाते हैं जैसे कि विष रस के अनुरूप ही अपने को परिवर्तित कर लेता है।”^४

१—जिनदास चूर्णि, पृ० ७० ७२ :

जहा पउमं पंके जायं जले समिदं तेहि चेव नोवलिष्यइ, एवं साहुणादि कामेहि
जाएण भोगेहि संबद्धिएण तहा कायत्वं जहा तेहि न लिष्यइ।

२—बही, पृ० ७२-७३ :

सूरो इव तेवसा बुत्सेण साहुणा भवितव्यं, जहा सूरोदयो समंता अविसेसेण लोमं
पगासेह, एवं साहुणादि धर्मं काहृपतेण राहणो बासस्त अविसेसेण कहृपत्वं।

३—बही, पृ० ७३ :

जहा पवनो कर्त्यइ न पवित्रद्वे तहा साहुणादि अपवित्रद्वे होवत्वं।

४—बही, पृ० ७३ :

साहुणा विस्तसेण भवितव्यं, भणियं च—

बयं मणुस्ता च सहा च वंदिया, च माजिनो चेव च भवत्वादिव्या।

जयं जयं (तो) पमवानु तारिता, जहा लितं सम्बरताणुदादिव्यं॥

१४. वह तिनिश जैसा हो :

जैसे तिनिश का पौधा सब ओर भुक जाता है, उसी प्रकार मुनि भी बड़ों के प्रति नम्र हो तथा श्रुत और अर्थ-प्रहण के लिए छोटों के प्रति भी नम्र हो ।^१

१५. वह बंजुल-वेतस जैसा हो :

जैसे बंजुल के नीचे बैठने से सर्व निर्विष हो जाते हैं, उसी प्रकार मुनि भी दूसरों को निर्विष करने वाला हो—उसके पास आए हुए कोधाकुल पुरुष भी उपशान्त हो जाय—ऐसी क्षमता वाला हो ।^२

१६. वह कर्णवीर (कणेर) के फूल जैसा हो :

जैसे सभी फूलों में कणेर का फूल स्पष्ट और गन्ध रहित होता है, उसी प्रकार मुनि भी सर्वत्र स्पष्ट और अशील की गन्ध से रहित हो ।^३

१७. वह उत्पल जैसा हो :

जैसे उत्पल सुगंधयुक्त होता है, उसी प्रकार मुनि भी शील की सुगंध से युक्त हो ।^४

१-जिनदास चूर्णि, पृ० ७३ :

तिणिसा जहा सख्तो नमइ एवं जहाराइणिए अमितव्यं, सुसत्यं च पहुच्च
ओमराइणिएत्तुचि नमियव्यं ।

२-वही पृ० ७३ :

बंकुलो नाम बेततो, तस्त किल हेतु चिह्निया सत्या लिखिती मर्वति, एरिसेन
साहृणा भवियव्यं, जहा कोहाइएहि महाबिसेहिं अमिन्नौर जीवे उपतामेह ।

३-वही, पृ० ७३ :

कणवीरयुक्तं सत्यपुण्डेरु पागहं जिमांवं च, एवं साहृणावि सख्तत्वं पागदेन
मवियव्यं, जहा असुइति एस जिमांवेणं असुभगंवो न नमइ सीलस्त एवं
मवियव्यं ।

४-वही, पृ० ७३ :

उपलसरिसेन साहृणा भवियव्यं, कहं ? जहा उपलं सुगंवं तहा साहृणा
तीक्ष्णसुगंवेन भवियव्यं ।

१८. वह उंटुर जैसा हो

जैसे कूहा उपयुक्त देश और काल में विचरण करता है, उसी प्रकार मूनि भी उपयुक्त देश-काल-चारी हो।^१

१९. वह नट जैसा हो-

जैसे नट बहुरूपी होता है, कभी राजा का और कभी दास का वेश धारण कर लेता है। उसी प्रकार मूनि भी हर स्थिति व काम करने में अपने को वैमे ही बना लेता है।^२

२०. वह मुर्गे जैसा हो

जैसे मुर्गा प्राप्त अनाज को पंगो से बिखेर कर चुगला है ताकि दूसरे प्राणी भी उनको चुग सके (खा सके), उसी प्रकार मूनि भी संविभागी हो—प्राप्त आङ्गार के लिए दूसरो को निर्मित कर खाने वाला हो।^३

२१. वह कौच जैसा हो

जैसे कौच निर्मल और प्रतिविम्बग्राही होता है, उसी प्रकार मूनि भी निर्मल और प्रतिविम्बग्राही हो। कौच वेसा ही प्रतिविम्ब लेता है, जैसी वस्तु सामने आती है। उसी प्रकार मूनि भी तरुणों में तरुण, स्थविरों में स्थविर और बच्चों में बच्चा बन जाए।^४

१-(क) हारिमद्रीय टीका, पत्र ८४ :

उम्मुक्समेन उपयुक्तवेशकालचारितया ।

(क) जिनदास चूर्णि में इसका उल्लेख नहीं है।

२-जिनदास चूर्णि, पृ० ७३ :

जहा से बहुरूपि रायवेसं काउं दासवेसं घारेह एवमाई, एवं साहृणा माणा-
वमाणेसु नवसरिसेण भवियत्वं ।

३-बही, पृ० ७३ :

कुकुडो जं लवमइ तं पाएण विकिरह ताहे अज्ञेवि सत्ता चुर्णति, एवं
संविमागच्छणा भवियत्वं ।

४-हारिमद्रीय टीका, पत्र ८४ :

आदर्शसमेन निर्मलतया तद्वाच्चनुष्टुतिप्रतिविम्बमावेन च, उक्तं च—

तरुणमि होइ तरुणो चेरो चेरेहि डहरए डहरो ।

अहाओविव रुबं अण्यताइ जस्त जं सीलं ॥

२२. वह अगन्धनकुल-सर्प जैसा हो :

सर्प दो प्रकार के होते हैं :

१. गन्धन-कुल में उत्पन्न ।

२. अगन्धन-कुल में उत्पन्न ।

गन्धन जाति ले सर्प डस कर चले जाते हैं किन्तु भैंत्रों से प्रेरित हो पुनः बहाँ आकर इसे हुए स्थान (व्रण) पर मुँह रखकर विष को चूस लेते हैं । अगन्धन जाति के सर्प मरना स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु बमन किए हुए विष को पुन धीना स्वीकार नहीं करते । उसी प्रकार मुनि भी त्याज्य काम-भोगों को पुनः धीने वाला न हो ।^१

२३. वह हृद वनस्पति जैसा न हो :

हृद एक जलज वनस्पति है । उसकी जड़ नहीं होती । बायु के झोकों से वह इधर-उधर आनी-जानी रहती है । जैसे वह अबद्ध-मूल और अस्थिर होती है, उसी प्रकार मुनि भी अबद्ध-मूल और अस्थिर न हो ।^२

१—किलास चूर्णि, पृ० ८७ ।

२—कृष्ण, पृ० ८९ ।

हृदो भास्म अनस्ताहिक्षेतो, सो वहत्तलापादिषु छिञ्चमूलो भवति, तथा वातेष्य य नाइद्वो इवो य निष्ठम् ।

५-निक्षेप-पद्धति

निर्युक्ति में निक्षेप-कथन से व्याख्या की पढ़ति मिलती है। नाम आदि विविधाओं से शब्दों के अर्थ का विस्तृत वर्णन मिलता है। उदाहरणस्वरूप 'दसवेभालिय' शब्द के आरम्भिक 'दस' शब्द का अर्थ स्कोटन नाम, स्थापना, द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव—इन जह निक्षेपों से किया गया है।

जामं ठवणा बविए लिते काले तहेव भावे अ ।

एतो खलु निक्षेवो दसगस्स उ छविहो होइ ॥ ९ ॥

प्रथम अध्ययन 'दुम्युलिया' के 'दुम' शब्द की व्याख्या चार निक्षेपों में की गई है

जामदुमो ठवणदुमो इवदुमो चेव होइ भावदुमो ।

एमेव य पुण्यस्स वि उत्तिविहो होइ निक्षेवो ॥ ३४ ॥

१. धर्म :

प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा में 'धर्म' शब्द आया है। चार निक्षेपों के महारे इसकी व्याख्या निर्युक्ति में इस प्रकार मिलती है

जामंठवणाधर्मो इवधर्मो अ भावधर्मो अ ।

एएसि नाशतं बुद्धामि अहाच्छुभुल्लीए ॥ ३९ ॥

इसं च अस्तिकायप्यारथर्ममो अ भावधर्ममो अ ।

दवस्स पञ्चदा जे ते घर्मा तस्य दवस्स ॥ ४० ॥

अमत्तिकायधर्ममो पशारथर्ममो य विस्यधर्ममो य ।

लोहयकुप्यावयणिम लोगुतर लोगजेगचिहो ॥ ४१ ॥

गम्मपसुदेसरज्जे पुरवरगामतागोहिराईं ।

सावज्जो उ बुतिलिक्यधर्ममो न जिजेहि उ पसत्त्वो ॥ ४२ ॥

बुविहो लोगुतरिको बुधर्ममो जह बरितधर्ममो अ ।

सुधर्ममो सज्जाको बरितधर्ममो समजधर्ममो ॥ ४३ ॥

निक्षेप-शैली से अर्थ-कथन करते के कारण पर्यायवाची शब्द और भेदानुभेदों का विस्तृत वर्णन निर्युक्ति, चूणि और टीका में मिलता है।

इनके मंकलन में तत्कालीन राज्य-व्यवस्था, सम्यता और विभिन्न आचारों पर प्रकाश पड़ता है। जैसे—

- (१) गम्य-धर्म—विवाह सम्बन्धी आचार। दक्षिणापथ में मामे की लड़की के साथ विवाह किया जा सकता था, उत्तरापथ में नहीं।
- (२) पशु-धर्म—पशु का आचार। माता, भगिनी आदि भी उनके लिए गम्य होती थीं।
- (३) देवा-धर्म—देवा का आचार। दक्षिणापथ की वेष-भूषा भिन्न है और उत्तरापथ की भिन्न।
- (४) राज्य-धर्म—राज्य का आचार, लाट देश में कर भिन्न होता है और उत्तरापथ में भिन्न।
- (५) पुर-धर्म एवं ग्राम-धर्म—नगर एवं गाँव का आचार। गाँव में अकेली स्त्री भी इधर-उधर आ-जा सकती थी किन्तु नगर में अकेली स्त्री न आ-जा सकती थी, दूसरी स्त्री के साथ ही जाती थी।
- (६) गण-धर्म—मन्त्र आदि मणित्र राज्यों की व्यवस्था। एक स्थान में सामूहिक रूप में पान करना उनका आचार था।
- (७) गोद्धुरी-धर्म—ममदयस्क व्यक्तियों का आचार। वे उत्सव आदि में ममिलित होकर हविकर भोजन आदि बनाते और सहभोजन करते।
- (८) राज-धर्म—राजा का आचार। दुष्ट का निश्रह और सज्जन का परिपालन—यह राज-धर्म है।

२. अर्थ (अर्थशास्त्र) :

संक्षेप में अर्थ (सम्पत्ति) इह प्रकार का होता है

- | | |
|------------|-------------|
| (१) धान्य | (४) द्विपद |
| (२) रत्न | (५) चतुष्पद |
| (३) स्थावर | (६) कुण्ड |

इनमें स्थावर व्यचल-सम्पत्ति है और शेष सब चल-सम्पत्ति के प्रकार हैं। विस्तार में अर्थ (सम्पत्ति) ६४ प्रकार का है—

- | | |
|-------------|-----------|
| (१) धान्य— | २४ प्रकार |
| (२) रत्न— | २४ प्रकार |
| (३) स्थावर— | ३ प्रकार |

(४) द्विपद—	२ प्रकार
(५) चतुर्पद—	१० प्रकार
(६) कुण्ड—	१ प्रकार

धान्य के २४ प्रकार^१ :

(१) जौ	(१३) अलसी
(२) गेहं	(१४) काला चना
(३) शालि चावल	(१५) निउडय-
(४) ग्रीहि-चन चावल	(१६) निणाव (गुजरात में इसे 'बाल' कहते हैं)
(५) साठी चावल	(१७) मोठ
(६) कोदो, कोदव	(१८) राजमाष-ओभिया, चौला
(७) अणुक-	(१९) इझु
(८) कांगणी	(२०) चौला
(९) रालक	(२१) रहर
(१०) तिल	(२२) कुलधी
(११) मृग	(२३) धनिया
(१२) उडद	(२४) मटर

चूर्णिकार्यके अनुसार 'मसूर' को मालवा आदि देशों में 'चौला' कहा जाता था 'और दृतिकार ने राजमाष का अर्थ 'चौला' किया है'।

१—दसवेकालिक निर्युक्ति, गाथा २५२, २५३।

२—देशीनाममाला (१५२) में इसके दो अर्थ किए हैं—(१) आकार और
(२) धान्य-विशेष।

३—पाइयस्ट्रमहण्ड (पृ० ५३७) में इसे देशी शब्द मानकर इसका अर्थ मालव-देश
में प्रसिद्ध एक प्रकार का धान्य किया है।

४—किलवास चूर्णि, पृ० २१२ :

मसूरा मालवविलयादिसु चबलाता।

५—हारिमहीय टीका, पत्र १९३ :

राजमाषाः—चबलकाः।

रत्न के २४ प्रकार^१ :

(१) स्वर्ण	(६) वज्र	(१७) वस्त्र
(२) त्रिपु—कलई	(१०) मणि	(१८) अमिला—ऊनी वस्त्र
(३) ताज्ज्र	(११) मुक्ता	(१९) काष्ठ-
(४) रजत—चाँदी	(१२) प्रवाल	(२०) चमं—महिष, सिंह आदि का
(५) लोह	(१३) शंख	(२१) दन्त—हाथी दाँत आदि
(६) सीसा, रांगा	(१४) तिनिश ^२	(२२) बाल—चमरी गाय आदि के
(७) हिरण्य—रुपया	(१५) अग्र	(२३) गन्ध—सौमन्धिक द्रव्य
(८) पाषाण विजातीयरत्न	(१६) चन्दन	(२४) द्रव्य—ओषधि-नीपर आदि

स्थावर के तीन प्रकार^३ :

स्थावर—अचल-सम्पत्ति तीन प्रकार की होती है। (१) भूमि, (२) घृह और (३) वृक्ष-समूह।

भूमि का अर्थ है—क्षेत्र। वे तीन प्रकार के होते हैं (१) सेतु, (२) केतु और (३) सेतु केतु।

घृह तीन प्रकार के होते हैं^४ :

(१) खात—भूमिघर, (२) उच्छ्रित—प्रासाद और (३) खात-उच्छ्रित—भूमिघर के ऊर प्रासाद।

“तत्त्वाण” नारियल, कदली आदि के आराम।

१—हारिमद्वीप टीका, पत्र १९३।

२—देखो, देखीनाममाला, ५।१।

इसके दो अर्थ हैं—तिनिश वृक्ष (गुजराती में तण्ड) और मधु-पटल—मधुमक्खी का छत्ता।

३—ब्रह्मवैकालिक निर्युक्ति, गाया २५६:

मूर्मी घरा य तत्त्वाण तिक्किहं पुण चावरं मुण्डङ्गं।

४—जिनदात चूर्णि, पृ० २१२ :

घरं तिक्किहं—खातं उस्तितं खाओसितं, तत्त्व खायं जहा भूमिघरं, उस्तितं जहा पासाओ, खातउस्तितं जहा भूमिघरत्स उबरि पासाओ।

५—बही, पृ० २१२ :

तत्त्वाणा जहा नालिकेटिकबलीमारी।

द्विपद के दो प्रकार^१ :

- (१) चकारबद्ध—दो पहियों से चलने वाले गाड़ी, रथ आदि ।
- (२) मनुष्य—दास, भृतक आदि ।

चतुर्पद के दस प्रकार^२ :

- | | |
|----------------|------------------------------|
| (१) गो-जाति | (६) अश्व-जाति |
| (२) महिष-जाति | (७) अश्वतर-जाति ^३ |
| (३) उष्टु-जाति | (८) घोटक-जाति |
| (४) अज-जाति | (९) गर्दभ-जाति |
| (५) खेड-जाति | (१०) हस्ति-जाति |

पक्ष्यली या वाल्हीक आदि देशों में उत्तर्ण जात्य हयों को 'अश्व' और अजात्य (सामान्य जातीय) हयों को 'घोटक' कहा जाता है ।^४

कुप्य :

प्रतिदिन घर के काम में आने वाली उपकरण-सामग्री—शयन, आसन, ताम्रकलश, घट आदि को 'कुप्य' कहा जाता है ।^५

१—दशवेकालिक निर्युक्ति, गाथा २५६ :

अवकारबद्धमानुस दुविहं पुण होइ दुपयं तु ॥

२—वृही, गाथा २५७ :

वाली महिसी उड्हा अद्यएलगभासभासतरगा अ ।

घोटग गद्ध हल्ही उउपयं होइ दसहा उ ॥

३—जिनदास चूर्णि, पृ० २१३ :

अस्ततरा नाम जे विजातिजाया जहा महामद्दृष्ट शीलवालिपाए ।

४—(क) जिनदास चूर्णि, पृ० २१२-१३ :

आसो नाम जज्जस्तरा जे पक्षलिविसयावितु मवंति...जे पुण अज्जवजाति-जाता ते घोटगा मवंति ।

(क) हारिनद्रीय टीका, पत्र १९४ :

अश्वा—वाल्हीकाविवेसोत्प्रा जात्या:...अजात्या घोटकाः ।

५—(क) जिनदास चूर्णि, पृ० २१३ :

कुवियं नाम घटविडितुं चणियं सप्तशासणमायजादि गिहवित्वारो कुवियं मन्त्राह ।

(क) हारिनद्रीय टीका, पत्र १९४ ।

३. अपाय :

अपाय का अर्थ है—परित्याग। वह चार प्रकार का है^१ : (१) द्रव्य अपाय, (२) क्षेत्र अपाय, (३) काल अपाय और (४) भाव अपाय।

इनको समझाते हुए निर्युक्तिकार ने अनेक घटानों और ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत किया है। जैसे—

(१) द्रव्य अपाय^२ .

इसे 'दो भाई और नोली'...के दृष्टान्त से स्पष्ट किया है।^३ देखो—“दशबैकालिक चूर्ण की कथाएँ” कथा-संस्था १६।

(२) क्षेत्र अपाय^४

दशार्ह हरिवंश में उत्तम राजा थे। कंत ने मधुरा का विवर्जन कर दिया। राजा जरासन्ध का भय बढ़ा तब उस क्षेत्र को अपाय-बहुल जान कर दशार्ह वहाँ से चल कर द्वारकती आ गए।^५

(३) काल अपाय :

एक बार कृष्ण ने भगवान् अरिष्टनेमि से पूछा—भगवन् ! द्वारकती का नाश कब होगा ? अरिष्टनेमि ने कहा—बारह वर्षों में द्वैपायन ऋषि के द्वारा इसका नाश होगा। द्वैपायन ऋषि ने जन-श्रुति से यह बात सुनी। “मुझ से नगरी का विनाश न हो,

१—हारिमद्रीय टीका, पत्र ३५।

२—दशबैकालिक निर्युक्ति, गाथा ५५।

३—हारिमद्रीय टीका, पत्र ३५-३६।

४—दशबैकालिक निर्युक्ति, गाथा ५६ :

सेतुंमि अवस्कर्मणं दसारवगस्त्वं होइ अवरेण ।

५—हारिमद्रीय टीका, पत्र ३६ :

कित्तापालोदाहरणं दसारा हरिवंशरापाणो एत्वं मही कहा जहा हरिवंशे ।

उबलोलियं चेष भग्नए, कंसमि विजिवाइ दासावायं लेत्समेवंतिकाक्षम जरासंघ-

रायमएण दसारवग्नो महराजो अवस्कर्मिन्नम बारवद्वं गमोसि ।

इसलिए इस काल की अवधि में और कहीं चला जाएँ”—यह सोच वे द्वारका को छोड़ उत्तरापथ में चले गए।^१

(४) भाव अपाय :

इसे ‘तुपहे बन्दना कैमे करे’—डम हट्टोन से स्पष्ट किया है। देखो—“दशवैकालिक चूर्णि की कथाएँ”, कथा-संख्या १६।

४. उपाय^२ :

उपाय का अर्थ है—इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रयत्न-विशेष। वह चार प्रकार है

(१) द्रव्य उपाय मोना निकालने और उसे शूद्र रूप में प्राप्त करने का उपाय धातुवाद है।^३

(२) क्षेत्र उपाय हूल आदि क्षेत्र को तंयार करने का उपाय है।^४ नौका से समुद्र के पूर्वी तट ने पश्चिमी तट पर जाना।^५

१—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ५६ :

दीवायणो अ काले ॥ १ ॥

(क) हारिमद्रीय टीका, पत्र ३६-३७ :

कष्टुच्छिएण भगवया रिद्वेमिणा वागरियं—बारसहि संबद्धरेहि दीवाय-
णओ बारवैर्णयरीविणासो, उज्जोतराए णगरीए परंपरएण मुणिङ्गण
दीवायणपरिवायओ मा णगरि विणासेहमिति कालावधिमण्णओ गमेमिति
उत्तरावहं गओ ।

२—(क) दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ६१ ६२ :

एमेव चउविगप्तो होइ उवाओ ऽवि तत्प वस्त्रमि ।

धातुव्वाओ पढ्मो नंगलकुलिएहि लेतं तु ॥

कालो अ नालियाहि होइ भावंमि धंडओ अमलो ।

चोरस्स कए नट्टि बड़कुमारिं परिकहोइ ॥

(क) हारिमद्रीय टीका, पत्र ४१,४२ ।

३—हारिमद्रीय टीका, पत्र ४० :

द्रव्योपाये विचारें ‘धातुव्वादः’ सुवर्णपातमोत्कर्यलक्षणो प्रव्योपायः ।

४—बही, पत्र ४० :

क्षेत्रोपायस्तु लङ्घलादिना क्षेत्रोपक्रमे भवति ।

५—जिनवास चूर्णि, वृ० ४४ :

जहा नावाए पुञ्जबेतालीओ भवरावेयालिं गम्मह ।

(३) काल-उपाय—नालिका काल जानने का उपाय है।

(४) भाव-उपाय—इसे दो उदाहरणों से स्पष्ट किया है—एक खंभे का प्रासाद (देखो दशवैकालिक चूर्णि की कथाएँ, कथा-संख्या १८) और दो विनय और विद्या (देखो वही, कथा-संख्या १६)।

अपाय और उपाय के निष्क्रेपों में दिए हुए लोकोत्तर उदाहरणों से निर्युक्ति-काल, चूर्णि-काल और वृत्ति-काल में साधु-संघ की जो स्थिति थी, उसका यथार्थ चित्र हमें प्राप्त होता है।

(१) द्रव्य-अपाय का लोकोत्तर रूप :

उत्सर्ग-विविध के अनुसार मुमुक्षु को अधिक द्रव्य (वस्त्र, पात्र आदि) तथा स्वर्ण आदि प्रहण नहीं करना चाहिए। किन्तु विशेष कारण उपस्थित होने पर चिर-दीक्षित साधु यदि उनका ग्रहण करे तो कारण समाप्त होते ही उनका अपाय—परित्याग कर दे।^१

(२) क्षेत्र-अपाय का लोकोत्तर रूप :

मुनि जिस क्षेत्र में विहार करता हो, यदि वह क्षेत्र अशिव आदि से आक्रान्त हो जाए तो मुनि उस क्षेत्र का अपाय कर दे।^२

(३) काल-अपाय का लोकोत्तर रूप :

दुर्भिक्ष आदि की स्थिति उत्पन्न होने पर मुनि को वह समय अन्यत्र बिताना चाहिए, जहाँ दुर्भिक्ष आदि की स्थिति न हो।^३

(४) भाव-अपाय का लोकोत्तर रूप :

मुनि क्रोध आदि का अपाय करे।^४

१—हारिमदीय टीका, पत्र ३९ :

इहोत्सर्गतो मुमुक्षुणा द्रव्यमेवाधिकं वस्त्रपात्राद्यन्दृता कनकादि न ग्राह्यः,
शिळकाहिसंविदिविकारणगृहीतमपि तत्परिसमाप्तो परित्याजयन्।

२—जिनवास चूर्णि, पृ० ४१ :

साहृदायादि असिद्धादीर्हि कारणेऽहि लेतावाऽमो कायम्बो ।

३—वही, पृ० ४१ :

साहृदायि दुर्भिक्षस्त अवातो असिद्धादं च कायम्बो, य-उ अपुष्टे आगंतव्यं
मूलसाए ।

४—हारिमदीय टीका, पत्र ३९ :

कोषादयोऽप्यास्तमावास्तेवां विवेकः—नरकपातनाद्यपायेत्कुलात्परित्यागः ।

(१) द्रव्य-उपाय का लोकोत्तर रूप :

(१) जैसे धारुबादिक उपाय से सोना बनाते हैं उसी प्रकार मुनि संघीय-प्रयोजन उत्पन्न होने पर योनि-प्राभृत आदि ग्रन्थ-निर्दिष्ट उपायों से सोना तैयार करे।^१

(२), विशेष स्थिति उत्पन्न होने पर विद्या-बल से ऐसा दृश्य उपनिषत् करे, जिससे कठिन स्थिति उपशात् हो जाए।^२

निर्युक्तिकार ने उपाय के केवल चार विकल्प बतलाए हैं। उन्होंने जो उदाहरण दिए हैं वे सारे लोकिक हैं।^३ लोकोत्तर विकल्पों की उन्होंने कोई चर्चा नहीं की है। चूर्णिकार ने लोकोत्तर उपायों की चर्चा की है। वहाँ संघ-कार्य के लिए स्वर्ण-निर्माण और विद्या-प्रयोग का अपवाद स्वीकार किया है।^४ दृतिकार ने लोकोत्तर उपायों की चर्चा की है किन्तु चूर्णिकार के इस (स्वर्ण-निर्माण) अभिप्राय को उन्होंने पराभिमत के रूप में उद्धृत किया है।^५ उनके अनुसार द्रव्य-उपाय का लोकोत्तर रूप यह है—पटल (छाछ से भरे हुए बन्त्र) आदि के प्रयोग से जल को प्राप्तुक बनाना।^६ चूर्णिका अपवाद दृतिकार को मान्य नहीं रहा और दृति का अपवाद आज मान्य नहीं है। इसका निष्कर्ष यह है कि चूर्णिकाल में साधु-संघ बड़ी कठिनाइयों से गुजर रहा था। उस परिस्थिति में अनेक विधि-विधान निर्मित हुए। आगम-काल में अहिंसा का स्थान सर्वोच्च था। उसके सामने संघ का स्थान गोण था, किन्तु इस मध्यकाल में संघ ने बहुत कंचा स्थान प्राप्त कर लिया। योगिक सिद्धियों का प्रयोग भी मान्य होने लगा। दृति-काल में कठिनाइयाँ भिन्न प्रकार की थीं। इसलिए अपवाद भी भिन्न प्रकार के बने। आज दोनों प्रकार की कठिनाइयाँ नहीं हैं।

१—जिनवास चूर्णि, पृ० ४४ :

इन्द्रोबायो जहा धारुबाइया उवाएण सुखनं करेति, एवं तारिसे संघकर्जे
समुप्प्ये उवाएण जोगीपाहुडाइयं पदिनीयं आसर्वति ।

२—बही, पृ० ४४ :

विजातिसर्विं वा एरिसे इरिसेह जेण उवसमेह ।

३—दशबैकालिक निर्युक्ति, गाथा ६१-६२ ।

४—जिनवास चूर्णि, पृ० ४४ ।

५—हारिनदीप दीका, पत्र ४० :

अये तु योनिप्रासृतप्रयोगतः काञ्चनपातनोर्कर्वलसनमेव संसूतप्रयोजनादौ
द्रव्योपायं व्याचकते ।

६—बही, पत्र ४० :

लोकोत्तरे स्वज्वादौ पटलादिप्रयोगतः प्राप्तुकोषकरणम् ।

(२) क्षेत्र-उपाय का लोकोत्तर रूप :

विद्या-बल से दुर्गम मार्ग को पार करना।^१ दृष्टिकार के अनुसार वह इस प्रकार है—आहार के लिए पर्यटन कर तमुच्चयुक्त क्षेत्र की एषणा करना।^२ यहाँ भी दृष्टिकार ने चूर्णिकार के अभिप्राय को परामित के रूप में उदृढ़ किया है।^३

(३) काल-उपाय का लोकोत्तर रूप

सूत्र के परिवर्तन से काल को जानना।^४

(४) भाव-उपाय का लोकोत्तर रूप

आचार्य शंख की उपस्थितिना देने से पूर्व उसके मानसिक भावों को अच्छी तरह से जान ले और यह निर्णय करे कि—“यह प्रदाननीय है या नहीं? प्रवर्जित करने पर भी यह मुण्डित करने योग्य है या नहीं?”^५

५. आचार :

आचार का अर्थ है—भिन्न-भिन्न रूपों में परिणमन। जो द्रव्य विवक्षित रूपों में परिणत हो सकता है, उसे आचारवान् और जो परिणत नहीं हो सकता हो, उसे अनाचारवान् कहा जाता है।^६

१—जिनशास चूर्णि, पृ० ४४ :

विषाहसेहि अद्वाणाद्यु नित्यरियव्वं ।

२—हारिमद्वीष टीका, पत्र ४० :

लोकोत्तरस्तु विविना प्रातरशानार्थमटनादिना क्षेत्रमावस्थम् ।

३—वही, पत्र ४० :

अये तु ..विषादिभिस्तु दुस्तराऽवतरणलक्षणं क्षेत्रोपायमिति ।

४—वही, पत्र ४० :

लोकोत्तरस्तु स्त्रपरार्थनादिविस्तथा भवति ।

५—वही, पत्र ४२ :

एवमित्युक्ति सेहानुबहुयांत्याखं उवाएष गीत्यत्वेण विपरिकामादिका भावो जानिव्यवोहिति, किं एष पद्माविज्ञान नवति, पद्माविद्युक्ति तेषु सुंदाक्षणाद्युक्ति एवेद विमासता ।

६—वही, पत्र १०१ :

आचरणं आचारः द्रव्यस्थाचारो द्रव्याचारः, द्रव्यस्थ यदाचरणं तेन तेन प्रकारेण परिणममित्यर्थः ।

आचार चार प्रकार का है^१—

- (१) नाम-आचार—जिसका नाम 'आचार' हो ।
- (२) स्वापना-आचार—जिस सचेतन या असचेतन वस्तु में 'आचार' का आरोप किया गया हो ।
- (३) द्रव्य-आचार—यह छ प्रकार का है ।
- (४) भावाचार—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य के भेद से पाँच प्रकार का होता है ।

द्रव्य-आचार के छह प्रकार^२ :

(१) नामन :

भुक्ते की हटि से—तिनिश आचारवान् होता है । एरण अनाचारवान् होता है, वह भुक्ता नहीं टूट जाता है ।

(२) धावन :

धोने को हटि से—हल्दिया रंग का कपड़ा आचारवान् होता है । धोने से उसका रंग उत्तर जाता है । कुमिराग से रंगा हुआ कपड़ा अनाचारवान् होता है । धोने से उसका रंग नहीं उत्तरता ।

(३) वासन :

वासन की हटि से—इंट, स्परेल आदि आचारवान् होते हैं—उन्हे पाटल आदि कूली से वासित किया जा सकता है । वज्र अनाचारवान् होता है, उसे सुवासित नहीं किया जा सकता ।^३

१—हारिमद्रीय टीका, पत्र १०१ :

आचारस्य तु चतुर्को निशेषः स चायम्—नामाचारः स्वापनाचारो द्रव्याचारो भावाचारश्च ।

२—बही, पत्र १०१ :

द्रव्याचारमाह—नामनथावनवासनशिक्षापनसुकरणादिरोधीनि द्रव्याणि यानि लोके तानि द्रव्याचारं विजानीहि ।

३—(क) बही, पत्र १०१ :

वासनं प्रति कवेलुकाचारवद् सुखेन पाटलाकुसुमादिभिर्वस्यमानत्वात्, वैद्यर्याद्यनाचारवद् अशास्यत्वात् ।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृ० ६४ :

अयायारमंतीओ कवेलुगामो इहुगामो वा, अयायारमन्तं वइरं, तं म सक्षम वासेहं ।

(४) शिक्षण :

शिक्षण की दृष्टि से तोता और मैना आचारवान् होते हैं—उन्हें मनुष्य की बोली सिखाई जा सकती है। कोए आदि अनाचारवान् होते हैं—उन्हें मनुष्य की बोली नहीं सिखाई जा सकती।

(५) सुकरण :

सरलता से करने की दृष्टि से सोना आचारवान् होता है, उसे गला-तपाकर सरलता से अनेक प्रकार के भासूपण बनाए जा सकते हैं। घंटा-लोह आचारवान् नहीं होता है, उसे तोड़कर उसकी दूसरी बम्तु नहीं बनाई जा सकती।

(६) अविरोध

अविरोध की दृष्टि से गुड़ और दही आचारवान् होते हैं—उनका योग रसोत्कर्ण पैदा करना है। तेज़ और दूब अनाचारवान् होते हैं, उनका योग रोग उत्पन्न करना है।

६. पद :

(१) जिसमें चला जाता है, उसे 'पद' कहते हैं, जैसे—हमिन-पद, व्याघ-पद, सिंह पद आदि-आदि।^१

(२) जिसमें कुछ निष्पन्न किया जाता है, उसे 'पद'-कहते हैं, जैसे—नख-पद, परण-पद आदि-आदि।^२

पद चार प्रकार का होता है^३—

(१) नाम-पद—जिसका 'पद' नाम हो।

(२) स्थापन-पद—जिस स्थेतन या अवेतन बम्तु में 'पद' का आरोप किया गया हो।

(३) द्रव्य-पद।

(४) भाव-पद।

१—बिनदास चूर्णि, पृ० ७६ :

गम्भंति जेवंति तं पदं भव्याइ, यहा हरिपदं बन्धपदं सीहृष्टं एवमादि।

२—बही, पृ० ७६ :

पदंताम जेण निष्वसिष्वाइ तं पदं भव्याइ, यहा नहृष्टं परसुपदं वासिपदं।

३—बालेकालिक निर्युक्ति, गाढा १६६ :

भावपदं डब्बपदं दब्बपदं चेष्ट होइ नावपदं।

एकेकंपिय एसो चेमजिहं होइ नायपदं॥

रथ्य-पद के व्यारह प्रकार^१—

(१) आकोट्टिम-पद—

जैसे—रथ्या । यह दोनों ओर से मुद्रित होता है ।

(२) उत्कीर्ण-पद—

जैसे—प्रस्तर में नाम उत्कीर्ण होता है अथवा कांस्य-पात्र उत्कीर्ण होता है ।

(३) उपनेय-पद—

जैसे—बकुल आदि के आकार के भिट्ठी के फूल बनाकर उन्हें पकाते हैं, फिर गरम कर उनमें मोम डाला जाता है । उससे वे मोम के फूल बन जाते हैं ।^२

(४) पीडित-पद—

जैसे—पुस्तक को बेघित कर रखा जाता है तब उसमें भंगावलियाँ उठ जाती हैं ।

(५) रंग-पद—

जैसे—रंगने पर कपड़ा विचित्र रूप का हो जाता है ।

(६) प्रथित-पद—

जैसे—गूंणी हुई माला ।

(७) वेष्टिम-पद—

जैसे—पूज्यमय मुकुट । आनन्दपुर में ऐसे मुकुट बनाए जाते थे ।^३

(८) पूरिम-पद—

जैसे—बैत की कुण्डी बनाकर वह फूलों में भरी जाती है । उसमें अनेक छिप होते हैं ।^४

१—दशवेकालिक निर्युक्ति, गाराया १६७ :

आउट्टिमउकिल्लं उच्चेक्षं पीस्तिम च रंगं च ।

गौषिमवेदिमपूरिम बाइमसंधाइमच्छेक्षं ॥

२—हारिमद्वीय दीका, पत्र ८७ :

तहा बउलाविपुस्तंठाकाचि विविलहुम्बदिलिङ्गवाचि काढं पक्षांति, तबो तेवु बव्वारिस्ता मयन्म झुग्गति, तबो मयनाम्बवा पुक्का हवन्ति ।

३—किलदास चूर्णि, पृ० ७६ :

वेदियं बहा बांधन्बुरे पुक्कमया भडडा कीरंति ।

४—बही, पृ० ७६ :

पूरिमं वित्तम्बदी कुंडिया करिस्ता सा पुक्कां भरिष्याह, तत्प छिप्पा भर्ति एवं पूरिमं ।

(६) बातची-पद—

जैसे—बन्ध निर्मित अथवा आदि ।

(१०) संचाल-पद—

जैसे—स्त्रियों की कबुलियाँ अनेक वस्त्रों के जोड़ से बनती हैं ।

(११) छेद-पद—

जैसे—अंग्रेजी-पठल ।

भाव-पद दो प्रकार का होता है^१

(१) अपराध-पद ।

(२) नो-अपराध-पद ।

अपराध-पद इह प्रकार का होता है^२—

(१) इन्द्रिय, (२) विषय, (३) कथाय, (४) परीषह, (५) वेदना, (६) उपसर्ग ।

ये मोक्ष-मार्ग के विघ्न हैं, इसलिए इन्हें अपराध-पद कहा गया है ।

नो-अपराध-पद दो प्रकार का होता है

(१) मातृका-पद—मातृका अधर अथवा त्रिपदी—उत्साद, व्यय और धौध्य ।

(२) नो मातृका-पद —नो-मातृका-पद दो प्रकार का होता है ।

(१) प्रथित-रचनाबद्ध ।

(२) प्रकीर्णक-कथा, मुक्तक^३ ।

प्रथित-पद चार प्रकार का होता है^४

(१) गद्य

(२) पद्य

(३) गेय

(४) चौरं

गद्य

जो मधुर होता है—सूत्र मधुर, वर्ष मधुर और अभिधान मधुर—इस प्रकार तीन रूपों में मधुर होता है, जो सहेतुक होता है, जो सिलसिलेभार प्रथित—रचित होता है, जो

१—विलदास चूर्णि, पृ० ७७ ।

२—दशलोकालिक निर्दुस्ति, वाचा १७५ ।

३—बही, पृ० ७७ :

पतिष्ठयन नाम जो पद्धता कहा कीरद तं पद्धतयन नामह ।

४—बही, वाचा १७० :

नक्षं वल्लं नेयं चुणं च चउच्चिहं तु नामित्यन् ।

अपाद—चरण-गहित होता है, जो विराम-सहित होता है—पाठ के नहीं किन्तु अर्थ के विराम से युक्त होता है (जैसे—“जिणवरपादार्विदसदाणिउरणिम्महसहस्रा ।” इस पूरे वाक्य को समाप्त किए बिना विराम नहीं लिया जा सकता । जैसे अन्त में अपरिभित—बृहदि होता है और अन्त में जिसका मृदु-गाठ होता है, उसे गद्य कहते हैं ।^१

पद्य :

यह तीन प्रकार का होता है—

(१) सम :

जिसके पाद—चरण तथा अक्षर सम हो, उसे सम कहते हैं । कई यह भी मानते हैं कि जिसके चारों चरणों में समान अक्षर हो, उसे सम कहा जाता है ।

(२) अर्धसम

जिसके पहले और तीसरे तथा दूसरे और चौथे चरणों के अक्षर समान हो, उसे अर्ध-सम कहते हैं ।

(३) विषम

जिसके सभी चरणों में अक्षर विषम हो, उसे विषम कहते हैं ।

गेय

जो गाया जाता है उसे गेय (गीत) कहने हैं । वह पाँच प्रकार का होता है—

(१) तंत्रोमम—जो वीणा आदि तंत्री के शब्दों के साथ-साथ गाया जाता है, उसे तंत्रीसम कहने हैं ।

(२) तालसम—जो ताल के साथ-साथ गाया जाता है, उसे तालसम कहते हैं ।^२

१—दशबैकालिक नियुक्ति, गाया १७१ :

महुंर हेउनिजुतं गहियमपार्यं विरामसंजुतं ।

अपरिभितं चउत्साधे कर्वं गउजं ति नायवं ॥

२—बही, गाया १७२ :

पञ्जं तु होइ तिविहं सममद्दसमं च नाम विसमं च ।

पाएहि अक्षरेरहि य एवं विहिणु कई बेति ॥

३—बही, गाया १७३ :

(क) तंतिसमं तालसमं वर्णसमं गहसमं लक्षसमं च ।

कर्वं तु होइ गेय पञ्चविहं गीयसन्नाए ॥

(ख) हारिमदीय टीका, वत्र दद ।

४—चूर्णि में यहाँ व्यत्यय है । बहीं तंत्रीसम, वर्णसम, तालसम आदि यह नाम हैं ।

वेळो—जिनवास चूर्णि, पृ० ७३ ।

(३) वर्णसम—ज्ञानभ, निषाद, पंथम आदि वर्ण कहलाते हैं। जो इनके साथ-साथ गाया जाता है, उसे वर्णसम कहते हैं।

(४) ग्रहसम—ग्रह का अर्थ है उत्स्तेत। (कई इसे प्रारम्भ-स विशेष भी मानते हैं) जो उत्स्तेत के माथ-साथ गाया जाता है, उसे ग्रहसम कहते हैं।

(५) लयसम—तंत्री की विशेष प्रकार की धनि को 'लय' कहते हैं। जो लय के साथ साथ गाया जाता है, उसे लयसम कहते हैं।

वंश-शालाका से तंत्री का स्पर्श किया जाता है और नर्खों से तार को दबाया जाता है, तब जो एक भिन्न प्रकार का स्वर उठता है, उसे 'लय' कहते हैं।

चौर्ण :

जो अर्थ बहुल हो—जिसके बहुत अर्थ हो, जो महान् अर्थ वाला हो—हेय और उपादेय का प्रतिपादन करने वाले तथ्यों से युक्त हो, जो हेतु—निपात और उपमर्ग से युक्त होने के कारण गंभीर हो, जो बहुपाद हो—जिसके चरणों का कोई निश्चित परिमाण न हो, जो अव्यावच्छिन्न हो—विराम-रहित हो, जो गम-शुद्ध हो—जिसमें सहश अक्षर वाले वाक्य हों और जो नय शुद्ध हो—जिसका अर्थ नैगम आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रतिपादित हो, उसे 'चौर्ण-पद' कहते हैं। ब्रह्मचर्य अध्ययन (आचारांग प्रथम श्रूतस्कन्ध) चौर्ण पद है।^१

७. काय :

काय अनेक प्रकार का होता है^२—

(१) नाम-काय—जिसका नाम 'काय' हो।

(२) स्थापना-काय—जिस मनेतन या अनेतन वस्तु में 'काय' का आरोप किया गया हो उसे स्थापना-काय कहते हैं।

१—ब्रह्मकालिक निर्युक्ति, गाया १७४ :

अत्यवहुलं महत्वं हेतुनिवाऽत्रोऽस्मान्तरीं।

बहुपादम्बोच्छिन्नं यमण्यसुद्धं च चुण्यपयं ॥

२—हारिमझीय दीका, पञ्च दद :

चौर्णं पदं ब्रह्मचर्याध्ययनपदवदिति ।

३—(क) वही निर्युक्ति, गाया २२८ :

नामं ठवणसरीरे गृहि जिकायत्प्रिकाय हविए च ।

मात्रगपदजसंवहमारे तह मावकाए च ॥

(क) हारिमझीय दीका, पञ्च १३४, १३५ ।

(३) शरीर-काय—शरीर स्वप्रायोग्य अणुओं का संचाल होने के कारण शरीर-काय कहलाता है।

(४) गति-काय—जिन शरीरों से भवान्तर में जाया जाता है अथवा जिस गति में जो शरीर होते हैं, उन्हें गति-काय कहते हैं।

(५) निकाय-काय—षड्जीवनिकाय—पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु, वनस्पति और ऋत को निकाय-काय कहते हैं।

(६) अस्ति-काय—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि पाँच अस्ति-काय हैं।

(७) द्रव्य-काय—तीन आदि द्रव्य एकत्र हों उन्हें द्रव्य-काय कहा जाता है, जैसे—तीन घट, तीन पट आदि-आदि।

(८) मातृका-काय—तीन आदि मातृका अस्तरों को मातृका-काय कहते हैं।

(९) पर्याय-काय—यह दो प्रकार का होता है—

(क) जीवपर्याय-काय—जीव के तीन आदि पर्यायों को जीवपर्याय-काय कहते हैं। जैसे—ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि।

(ख) अजीवपर्याय-काय—अजीव के तीन आदि पर्यायों को अजीवपर्याय-काय कहते हैं। जैसे—रूप, रस, गत्व आदि-आदि।

(१०) संप्रह-काय—तीन आदि द्रव्य एक शब्द से संग्रहीत होते हैं, उसे 'संप्रहकाय' कहते हैं। जैसे—त्रिकूट—सोठ, पीपल और कालीमिर्च। त्रिफल—हरड़, बहेड़ा और बौदला।

अथवा चावल आदि की राशि को भी 'संप्रहकाय' कहते हैं।

(११) भार-काय—दृतिकार ने इसका अर्थ कौंवर किया है। चूर्णिकार ने इसका अर्थ विस्तार से किया है—

"एक कहार तालाब से दो घडे पानी से भर, उन्हें अपनी काँवर में रख दर आ रहा था। एक ही अप्काय दो भागों में विभक्त हुआ था। उसका पैर फिलाला, एक घडा फूट गया। उसमें जो अप्काय था, वह भर नया। दूसरे घडे में जो अप्काय था, वह जीवित रहा। कौंवर में अब एक ही घडा रह गया। संतुलन के अभाव में वह भी कूट गया। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यह पहले जो अप्काय भरा था, उसी ने दूसरे घडे के अप्काय को मार डाला।"

प्रकारान्तर से इस प्रकार कहा जा सकता है—

"एक घडे में अप्काय भरा था, उसे दो भागों में विभक्त कर एक भाग को गर्म किया गया। वह भर गया। जो गर्म नहीं किया गया था, वह जीवित रहा। गर्म पानी उसमें मिला दिया गया। वह निर्जीव ही गया। इसलिए कहा जा सकता है कि मूल

अपकाय ने जीवित अपकाय को मार डाला ।” इसी को पहली की आवा में कहा गया है—

एगोकावो दुहा जानी, एगो चिट्ठइ मारिओ ।
जीवितो भएग मारिओ, तळुव माणव । केग हेउणा ॥

अचौत् एक काय था । वह दो में बंट गया । एक जीवित रहा, एक मर गया । जो मरा उसने जीवित को मार डाला । कहो यह कैसे हुआ ?

(१२) भाव-काय—कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम तथा परिणमन से होने वाली अवस्थाएँ ।

५-निरुक्त

निरुक्त का अर्थ है—शब्दों की व्युत्पत्ति-परक व्याख्या। इस पद्धति में शब्द का मूल-स्पर्शी अर्थ ज्ञात हो सकता है। आगम के व्याख्यात्मक साहित्य में इस पद्धति से शब्दों पर बहुत विचार हुआ है। उनकी छानबीन से शब्द की वास्तविक प्रकृति को समझने में बहुत सहारा मिलता है और अर्थ भी सही रूप में पकड़ा जाता है। जिनदास चूर्णि में अनेक निरुक्त दिए गए हैं। उनका सकलन अब बोध में महायक है। कुछ निरुक्त ये हैं—

दुम—

दुमा नाम भूमीय आगमे य दोम् भाया दमा ।^१

पादम—

पादेहि पिबनीति पादपा ।^२

स्वस्त्र—

रुति पुहबी खत्ति आगास तेमु दोमुवि जहा ठिया तेण रक्षता ।^३

विडिम

विडिमाणि जेण अत्यि तेण विडिमा ।^४

अगम—

ग गच्छतीति अगमा ।^५

तरव—

णदीतलागादीणि तेहिं तरि-जनि तेण तरवो ।

कुह—

कुति पिपिदो तोण धारिज्जति तेण कुहा ।^६

महीरुह—

महीए जेण स्वहति तेण महीरुहा ।^७

१—जिनदास चूर्णि, पृ० १० ।

२—बही, पृ० १० ।

३—बही, पृ० ११ ।

४—बही, पृ० ११ ।

५—जिनदास चूर्णि, पृ० ११ ।

६—बही, पृ० ११ ।

७—बही, पृ० ११ ।

८—बही, पृ० ११ ।

वच्छ्वः

पुलणेहेणवा परिगिज्जंति तेण वच्छ्वा ।^१

रोबगः

हृष्टंति जम्हा तेण रोबगा ।^२

मंगलः

मंग नारकादिषु पवडंतं सो लाति मंगलं, लाति गेष्ट्वद्विति वुतं भवति ।^३

तवः

तवो णाम तावयति अट्ठविहं कम्मर्गंठि, नासेतिति वुतं भवति ।^४

देवः

देवा णाम दीवं आगासं तंभि आगासे जे वसंति ते देवा ।^५

अणसणः

अणसणं नाम जं न असिज्जइ अणसणं, जो आहारिज्जइति वुतं भवति ।^६

पाओवगमणः

पाओवगमणं इणिगिमरणं भत्तपञ्चकसाणं च, तत्य पाओवगमणं णाम जो निष्पदि-
कम्पो पादउब जओ पडिओ तओ पडिओ चेव ।^७

नायः

नज्जंति अणेण अत्या तेण नायं ।^८

आहरणः

आहृरिज्जंति अणेण अत्या तेण आहरणं ।^९

दिट्ठंतः

दीसंति अणेण अत्या तेण दिट्ठंतो ।^{१०}

ओवम्मः

उवमिज्जंति अणेण अत्या तेण ओवम्मं ।^{११}

नियदिसणः

दरिसिति अणेण अत्या तेण नियदिसणं ।^{१२}

१—जिनवास चूर्णि, पृ० ११ ।

७—जही पृ० २१ ।

२—जही, पृ० ११ ।

८—जही, पृ० ३९ ।

३—जही, पृ० १५ ।

९—जही, पृ० ३९ ।

४—जही, पृ० १५ ।

१०—जही, पृ० ३९-४० ।

५—जही, पृ० १५ ।

११—जही, पृ० ४० ।

६—जही, पृ० २१ ।

१२—जही, पृ० ४० ।

भ्रमर :

भ्राम्यति च रौति च भ्रमरः ।^१

विहंगम :

विहंगचक्रतीति विहंगमा ।^२

पञ्चद्वय :

पञ्चद्वयो णाम पापाद्विरतो प्रद्रजितः ।^३

अणगार :

अणगारा नाम अगारं—गृहं तद् यस्य नास्ति सः अनगारः ।^४

पासंडी :

अटुविहाओ कम्पपासओ डीणो पासंडी ।^५

चरण :

तवं चरतीति चरणो ।^६

तावसो :

तवे छिंवो तावसो ।^७

भिक्खु :

भिक्खणसीलो भिक्खु ।^८

परिव्वायओ :

सब्बतो पावं परिवज्जयंतो परिव्वायओ भण्डा ।^९

निर्गंथो :

बाहिरबमंतरेहि गंथेहि निर्गाओ निर्गंथो ।^{१०}

संयतो :

सब्बप्पगारेण अहिसाइएहिं जतो मंजतो ।^{११}

मुत्त :

मुत्तो बाहिरबमंतराथेहि ।^{१२}

१—जिनदास चूर्णि, पृ० ६२ ।

७—बही, पृ० ७३ ।

२—बही, पृ० ६६ ।

८—बही, पृ० ७३ ।

३—बही, पृ० ७३ ।

९—बही, पृ० ७४ ।

४—बही, पृ० ७३ ।

१०—बही, पृ० ७४ ।

५—बही, पृ० ७३ ।

११—बही, पृ० ७४ ।

६—बही, पृ० ७३ ।

१२—बही, पृ० ७४ ।

तिण ताती :

जम्हा य संसारसमूह तरंति तरिसंति वा तम्हा तिणो ताती ।^१

नेय :

जम्हा अण्डेवि भविएऽ सिद्धिमहपट्टवां अविग्वपहेल नयद् तम्हा नेया ।^२

मुणि :

सावज्जेमु भोणं सेवतिति मुणी ।^३

खंतो :

खमतीति खंतो ।^४

दंतो :

इदियकमाएऽ दमतीति दंतो ।^५

विरतो :

पाणवधादीहि आसवदारेहिं न वट्ठइति विरतो ।^६

लूही :

अतपंतेहिं लूहेहिं जीवेइति लूही अववा कोहमाणा दो गेहो भण्डइ, तेमु रहतेमु लूहे ।^७

तीरट्टु :

संसारसागरस्त तीरं अत्यदतिति वा ममाइति वा एगट्टा तीरट्टु ।^८

तायिणो :

तायंतीति तायिणो ।^९

महब्ययं :

महंतं वर्तं महब्ययं ।^{१०}

सिला .

सिला नाम विच्छिण्णो जो पाहाणो स सिला ।^{११}

सत्थ :

सासिज्जइ जेण तं सत्थ ।^{१२}

१—जिनवास खूर्जि, पृ० ७४ ।

७—जही, पृ० ७४ ।

२—जही, पृ० ७४ ।

८—जही, पृ० ७४ ।

३—जही, पृ० ७४ ।

९—जही, पृ० १७७ ।

४—जही, पृ० ७४ ।

१०—जही, पृ० १४४ ।

५—जही, पृ० ७४ ।

११—जही, पृ० १५४ ।

६—जही, पृ० ७४ ।

१२—जही, पृ० २२४ ।

हब्बवाहो ।

हब्बं वहनीति हब्बवाहो ।^१

सावज्ज

सहवज्जेण सावज्जं ।^२

वाक्यः

वाच्यते इति वाक्यं ।^३

गिरा

गिजज्ञतीति गिरा ।^४

सरस्सति ।

सरो जीसे अत्यि सा सरस्सति ।^५

भारही ।

भारो णाम अत्यो, तमत्थं धारयतीति भारही ।^६

गो ।

पुरच्छ्रमातो लोगंताओ पञ्चत्थिभिलं लोगंतं गच्छतीति गो ।^७

वाणी

वदिङ्जते वयणिज्जा वा वाणी ।^८

भाषा ।

भणिज्जतीति भासा ।^९

पणवणी

पणविज्जती जीए सा पणवणी ।^{१०}

देसणा ।

अत्थं देसयतीति देसणा ।^{११}

जोग :

वायापरिणामेण जीवस्स जोगो तेण कहुगफलसादिपरिणामजोयणं जोगो ।^{१२}

१—जिनहास चूर्णि, पृ० २२५ ।

७—जही, पृ० २३४-२३५ ।

२—जही, पृ० २२५ ।

८—जही, पृ० २३५ ।

३—जही, पृ० २३४ ।

९—जही, पृ० २३५ ।

४—जही, पृ० २३४ ।

१०—जही, पृ० २३५ ।

५—जही, पृ० २३४ ।

११—जही, पृ० २३५ ।

६—जही, पृ० २३४ ।

१२—जही, पृ० २३५ ।

पिसुण :

पीतिसुणां करोतीति पिसुणो ।^१

खवण :

अणां कम्मं भण्डइ, जम्हा अणं खवयइ तम्हा खवणो भण्डइ ।^२

१—जिनदात चूर्णि, पृ० ३१६ ।

२—अही, पृ० ३३४ ।

६—एकार्थक

आगमों में तथा उनके व्याख्या-प्रन्थों में एकार्थक शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। प्रथम दृष्टि में वे कुछ सार-हीन से लगते हैं परन्तु जब उनके अंतस्तल तक पहुँचा जाता है तब यह जात होता है कि यह पद्धति ज्ञान-वृद्धि में बहुत ही सहायक रही है। इस पद्धति के माध्यम से विद्यार्थियों को कोष कण्ठस्थ करा दिया जाता था। एकार्थक शब्द संकलना का यह भी प्रयोजन था कि गुरु के पास अनेक देशीय शिष्य पढ़ते थे उनको अपनी-अपनी भाषा में व्यवहृत शब्दों के माध्यम से सहज ज्ञान कराया जा सके, इसलिए नाना देशीय शब्दों को एकार्थक कहकर संकलन कर दिया जाता था। इसे शब्द-कोष के निर्माण का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है। नीचे एकार्थक शब्दों की तालिका दी जा रही है :

पञ्जवोति वा भेदोति वा गुणोति वा एगटु ।^१

ज्ञाणंति वा संवेदणंति वा अधिगमोति वा चेतणंति वा भावनि वा एते सदा एगटु ।^२

अहिसाइ वा अजीवाइवातोति वा पाणानिपातविरइति वा एगटु ।^३

अवड्डन्ति वा अद्वंति वा एगटु ।^४

आलोयणंति वा पामामकरणंति वा अक्षणंति वा विमोहिति वा एगटु ।^५

महिति वा मुति (सद) ति वा सण्णति वा आभिण्डोहियणाणति वा एगटु ।^६

परिज्ञन्ति वा पत्थणंति वा गिद्धिति वा अभिलासोति वा लेपति वा कंखंति वा एगटु ।^७

विद्यस्समोति वा विवेगोति वा अधिकिरणंति वा छटुणंति वा बोसिरणंति वा एगटु ।^८

चेयणंति वा उवयोगोति वा अवलरति वा एगटु ।^९

अपिवति आदियतिति एगटु ।^{१०}

अत्थयतिति वा ममाइति वा एगटु ।^{११}

चयाहिति वा छड्डेहिति वा जहाहिति वा एगटु ।^{१२}

१—जिनवास चूर्णि, पृ० ४ ।

७—बही, पृ० ३० ।

२—बही, पृ० १० ।

८—बही, „ ३७ ।

३—बही, „ २० ।

९—बही, „ ४६ ।

४—बही, „ २२ ।

१०—बही, „ ६३ ।

५—बही, „ २५ ।

११—बही, „ ७४ ।

६—बही, „ २९ ।

१२—बही, „ ८६ ।

आयरतिति वा तं तं भावं गच्छइति वा आयरइति वा एगटु ।^१
 वीरति वा सूरेति वा एगटु ।^२
 नाणंति वा उवयोगेति वा एगटु ।^३
 कसायओति वा भावोति वा परियाओति वा एगटु ।^४
 ऊर्धवति वा उच्चवति वा एगटु ।^५
 भद्रगंति वा कळ्हाणंति वा सोमणंति वा एगटु ।^६
 पियतिति वा आपियइति वा एगटु ।^७
 तवस्तीति वा साहृति वा एगटु ।^८
 अणंति वा रिणंति वा एगटु ।^९
 अभिलसंति वा पत्त्वयंति वा कामयंति वा अभिष्यायंति वा एगटु ।^{१०}
 विच्छिन्नंति वा अणंतंनि वा वितुलंति वा एगटु ।^{११}
 वीरंति वा पड्टुणंति वा मूलंति वा एगटु ।^{१२}
 समुपसयेति वा रासिति वा एगटु ।^{१३}
 दुर्तंति वा भणितंति वा धारयंति वा संजमंति वा निमितंति वा एगटु ।^{१४}
 विष्णयंति वा देसियंति वा एगटु ।^{१५}
 बजंति वेरंति वा परति वा एगटु ।^{१६}
 पाणाणि वा भूपाणि वा एगटु ।^{१७}
 ममाणंति वा पियकरणंति वा विवेयणंति वा विजओति वा एगटु ।^{१८}
 सिणाणंति वा ध्वाणंति वा एगटु ।^{१९}
 छहुउति वा जडोति वा एगटु ।^{२०}

१—जिनदास चूर्णि, पृ० १४।

११—बही, पृ० २१५।

२—बही, पृ० ११६।

१२—बही, „ २१९।

३—बही, „ १२०।

१३—बही, „ २१९।

४—बही, „ १२१।

१४—बही, „ २२१।

५—बही, „ १९९।

१५—बही, „ २२२।

६—बही, „ २०१।

१६—बही, „ २२५।

७—बही, „ २०२।

१७—बही, „ २२८।

८—बही, „ २०३।

१८—बही, „ २२९।

९—बही, „ २०४।

१९—बही, „ २३१।

१०—बही, „ २१५।

२०—बही, „ २३१।

उपिलावणंति वा क्लावणंति वा एगटु ।^१
 चिक्कणंति वा दारुणंति वा एगटु ।^२
 मलंति वा जाणंति वा एगटु ।^३
 उर्बंति वा वर्यंति वा एगटु ।^४
 लंगलंति वा हलंति वा एगटु ।^५
 बहवेति वा अणेति वा एगटु ।^६
 मुणिति वा गणिति वा एगटु ।^७
 परिज्जभासिति वा परिक्षभासिति वा एगटु ।^८
 गुणोति वा पञ्जतोति वा एगटु ।^९
 आदियतिति वा गेष्ठितिति वा तेसि दोसाणं आयरणंति वा एगटु ।^{१०}
 भणियंति वा वुतंति वा एगटु ।^{११}
 पेमंति वा रागोति वा एगटु ।^{१२}
 दारुणसद्वो कक्कसद्वो विय एगटु ।^{१३}
 अणुतरंति अणुतमति वा एगटु ।^{१४}
 विणिच्छओति वा अवितहभावोति वा एगटु ।^{१५}
 विर्यजितंति वा तत्वंति वा एगटु ।^{१६}
 अत्तवंति वा विलवंति वा एगटु ।^{१७}
 पदंति वा भूताधिकरणंति वा हणंति वा एगटु ।^{१८}
 लयणंति वा गिहंति वा एगटु ।^{१९}
 पिक्खंतोति वा पञ्चइबोति वा एगटु ।^{२०}

१—जिनदास चूर्णि, पृ० २३१।

११—जही, पृ० २७४।

२—जही, पृ० २३२।

१२—जही, „ २८३।

३—जही, „ २३३।

१३—जही, „ २८३।

४—जही, „ २३४।

१४—जही, „ २८७।

५—जही, „ २५४।

१५—जही, „ २८७।

६—जही, „ २६१।

१६—जही, „ २८९।

७—जही, „ २६३।

१७—जही, „ २८९।

८—जही, „ २६४।

१८—जही, „ २९०।

९—जही, „ २६६।

१९—जही, „ २९०।

१०—जही, „ २६६।

२०—जही, „ २९३।

संभवोति वा अनुभवोति वा एगटु ।^१
 मर्लति वा पार्वति वा एगटु ।^२
 गुणेतिति वा परियद्वतिति वा एगटु ।^३
 अभूतिभावोति वा विणासभावोति वा एगटु ।^४
 पठंजेज्जति वा कुञ्जिज्जति वा एगटु ।^५
 पभासइति वा उज्जोएइति वा एगटु ।^६
 उवटुओति वा अमुटुओति वा एगटु ।^७
 सालति वा साहृति वा एगटु ।^८
 निमाच्छति वा पावति वा एगटु ।^९
 उभवोति वा दुहओति वा एगटु ।^{१०}
 पुज्जोणाम् पूयणिज्जोति वा एगटु ।^{११}
 चरतिति वा भक्तितिति वा एगटु ।^{१२}
 सक्तिति वा सहयति वा एगटु ।^{१३}
 दोमणस्संति वा दुमणियति वा एगटु ।^{१४}
 सयर्यति वा अणुबद्धति वा एगटु ।^{१५}
 सोङ्ग वा सोङ्गवाण वा एगटु ।^{१६}
 मुणिति वा नाणिति वा एगटु ।^{१७}

१--जिल्हास चूर्णि, पृ० २९३ ।

१०--बही, पृ० ३१६ ।

२--बही, , २९४ ।

११--बही, , ३१८ ।

३--बही, , २९७ ।

१२--बही, , ३१९ ।

४--बही, , ३०२ ।

१३--बही, , ३२० ।

५--बही, , ३०६ ।

१४--बही, , ३२१ ।

६--बही, , ३०७ ।

१५--बही, , ३२३ ।

७--बही, , ३०८ ।

१६--बही, , ३२४ ।

८--बही, , ३०९ ।

१७--बही, , ३२५ ।

९--बही, , ३१४ ।

बर्यतिति वा गच्छतिति वा एगटु ।^१
 ठारंति वा भेदोत्ति वा एगटु ।^२
 चउच्चिहति वा चउभेदति वा एगटु ।^३
 पेहतिति वा पेच्छतिति वा एगटु ।^४
 अट्रियतिति वा आपरइति वा एगटु ।^५
 कितिवण्णस्त्रिसिलोगटुया एगटु ।^६
 हश्यंति वा शेयंति वा एगटु ।^७
 पडिपुलंति वा निरवसेसंति वा एगटु ।^८
 कुच्छइति वा घडइति वा एगटु ।^९
 खेमति वा सिवंति वा एगटु ।^{१०}
 बोसट्टंति वा बोसिरियंति वा एगटु ।^{११}
 मुच्छासदो य गिद्दिसदो य साधुति वा एगटु ।^{१२}
 संगोत्ति वा इंवियत्योति वा एगटु ।^{१३}
 भिक्खुति वा साधुति वा एगटु ।^{१४}
 अकुडिलेति वा अणहोति वा एगटु ।^{१५}
 आडक्लेशि वा पवेदडिति वा एगटु ।^{१६}
 महामूणीति वा महानाणीति वा एगटु ।^{१७}
 उवेडिति वा गच्छडिति वा एगटु ।^{१८}
 तंतंति वा मुतोति वा गंधोत्ति वा एगटु ।^{१९}
 जामंति वा ठारंति वा भेदन्ति वा एगटु ।^{२०}

१—जिनदास चूर्णि, पृ० ३२४।

२—जही, पृ० ३२५।

३—जही, „ ३२६।

४—जही, „ ३२६।

५—जही, „ ३२७।

६—जही, „ ३२८।

७—जही, „ ३२९।

८—जही, „ ३२९।

९—जही, „ ३२९।

१०—जही, „ ३२६।

११—जही, हृ० ३४४।

१२—जही, „ ३४५।

१३—जही, „ ३४६।

१४—जही, „ ३४६।

१५—जही, „ ३४७।

१६—जही, „ ३४८।

१७—जही, „ ३४८।

१८—जही, „ ३४८।

१९—जही, „ ३४९।

२०—जही, „ ३५३।

८—सम्यता और संस्कृति

दशबोकालिक सूत्र का निर्यूहण वीर-निर्वाण की पहली शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ था। उस पर आचार्य भद्रबाहु कृत ३७१ गाथाओं वाली निर्युक्ति और अगस्त्यसिंह स्थविर (विं की तीसरी या पांचवीं शताब्दी) तथा जिमदास महत्तर (विं की सातवीं शताब्दी) कृत चूर्णियाँ हैं। आचार्य हरिमद (विं की ६ वीं शताब्दी) ने उस पर टीका लिखी। जो तथ्य मूल आगम में थे, उन्हें इस व्याख्याकारों ने अपने-अपने समय के अनुकूल विकसित किया है। प्रस्तुत अध्ययन मूल तथा उक्त व्याख्या-ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है। इसमें आगम-कालीन तथा व्याख्या-कालीन सम्यता तथा संस्कृति पर प्रकाश पड़ता है।

गृह :

यह अनेक प्रकार के होते थे ।^१

(१) खात—भौम्हरा ।

(२) उचिकृत—प्रासाद ।

(३) खात-उचिकृत—ऐता प्रासाद जहाँ भूमि-गृह भी हो । एक लंबे वाले मकान को प्रासाद कहा जाता था ।^२

मकान भरोवेदार होते थे ।^३ उनकी दीवारें चिप्रित होती थी ।^४ मकानों के द्वार शालाम्य होते थे । दरवाजों के ताला लगाया जाता था ।^५ नगर-द्वार के बड़े-बड़े दरवाजे

१—जिमदास चूर्णि, पृ० ८९

परं तिविहं-काते उस्सितं जामोसितं, तस्य जायं जहा भूमिष्वरं, उस्सितं जहा पासामो, कातउस्सितं जहा भूमिष्वरस्तु उचरि पासादो ।

२—हारिमदीय टीका, पत्र २१६ ।

अत्रैकस्ताम्भं प्रासादं ।

३—हारिमदीय टीका, पत्र २३१ ।

गवालंकारीक् ।

४—दशबोकालिक दा४४ ।

चित्तमिस्ति न निष्काए ।

५—हारिमदीय टीका, पत्र १८४ ।

द्वारवन्दं वाऽपि ॥

होते थे । उनमें परिष लगा हुआ होता था और गोपुर के किंवाड़ आदि के आगल लगी हुई होती थी ।^१

घरों के द्वार शाणी और प्रावार से आज्ञावित रहते थे । शाणी अतसी और बल्क से तथा प्रावार मृग के रोए से बनते थे ।^२ निर्वन व्यक्तियों के घर काँटों की डाली से ढके रहते थे । घर गोबर से लीपे जाते थे ।^३

घरों में स्नान-गृह और शौच-गृह होते थे । भिसु घर की मर्यादित भूमि में ही जा सकते थे । उसका अतिकरण सन्देह का हेतु माना जाता था ।^४

घरों में कूलों का प्रचुर मात्रा में व्यवहार होता था । कण्बीर, जाति, पाटल कमल, उत्तल, गर्दभक, महिका, शास्मली आदि पुष्प व्यवहृत होते थे । रसोई घर को उत्तर से सफाया जाता था ।^५

घर भाडे पर भी मिल जाते थे ।^६

कई अपवरकों के द्वार अत्यन्त नीचे होते थे । वहाँ भोजन सामग्री रहती थी ।^७

उपकरण :

दिना अवस्थे वाली कुरसी (आसंदी), आसालक—अवस्थभयुक्त, पर्यंक, पीठ आदि आसन लकड़ी से बनाए जाते थे और बैंट या डोर से गूढ़े जाते थे । कालान्तर में वे कहीं-कहीं लटमल आदि से भर जाते थे ।^८ पीढ़ा पलाल^९ या बैंट का होता था ।^{१०}

१—हारिमद्वीय टीका, पत्र १८४ ।

२—(क) हारिमद्वीय टीका, पत्र १६६-१६७ ।

(ख) अगस्त्य चूर्ण—सरोमोपावारतो ।

३—दशवैकालिक, ५।१।२। ।

४—बही, ५।१।२।४-२। ।

५—बही, ५।१।२।१; ५।१।१।४-१। ।

६—हारिमद्वीय टीका, पत्र २६४ :

माठकगृह वा ।

७—दशवैकालिक, ५।१।२।० ।

८—(क) दशवैकालिक, ६।५।४-५। ।

(ख) जिनदास चूर्ण, पृ० २८८-२८९ ।

९—जिनदास चूर्ण, पृ० २२९ :

पीढ़यं पलाल पीछावा वि ।

१०—हारिमद्वीय टीका, पत्र २०४ :

पीछे-बेत्रमयादौ ।

साधु पाँच प्रकार के तृण लेते थे :^१

- (१) शाली के तृण
- (२) बीहि के तृण
- (३) कोद्रव के तृण
- (४) रालक के तृण
- (५) अरण्य के तृण

पाँच प्रकार के चर्म उपयोग में आते थे :^२

- (१) बकरे का चर्म
- (२) भेष का चर्म
- (३) गाय का चर्म
- (४) भैंस का चर्म
- (५) मृग का चर्म

काठ या चमड़े के जूते पहने जाते थे। आतप और वर्षा से बचने के लिए छात्र रखे जाते थे।^३

कम पानी वाले देशों में काठ की बनी हुई कुण्डी जल से भर कर रखी जाती थी, जहाँ लोग स्नान तथा कुप्ता किया करते थे। उसे 'उदगदोणी' कहा जाता था।^४ गाँव-गाँव में रहंट होते थे और उनसे जल का संचार लकड़ी से बने एक जल-प्रांग से होता था। इसे भी 'उदगदोणी' कहते थे।^५ स्वर्णकार काठ की अहरन रखते थे।^६

धाली, कटोरे आदि वर्तन विशेषत कांसी के होते थे। धनबानों के यहाँ सोने-चाँदी के वर्तन होते थे। प्याले, क्रीड़ा-पान के वर्तन, धाल या खोदक को 'कंस' कहते थे। कच्छ

१—हारिमद्रीय टीका, पत्र २५।

२—बही, पत्र २५ :

अथ एह नावि अहिसी नियामनविज्ञ च वंशर्म होइ ।

३—भाषेकालिक, ३।४।

४—जिनदास चूर्णि, पृ० २५४।

५—हारिमद्रीय टीका, पत्र २१८ :

उवकडोच्चोश्चतुर्वलवारिका ।

६—बही, पत्र २१८ :

नणिका सुर्वर्जकारानामचिकरणी (अहिगरणी) स्वापनी ।

आदि देशों में कुण्डे से आकार वाला भाजन^१ अथवा हाथी के पैर के आकार वाला पात्र 'कुण्डमोद' कहलाता था।^२

सुरक्षा के लिए भोजन के या अन्यान्य पात्र, जलकुभ, चड्ही, पीढ़, शिला-पुत्र आदि से ढाके जाते थे। तथा बहुत काल तक रखी जाने वाली बस्तुओं के पात्र मिट्टी से लीजे जाते थे और श्लेष द्रव्यों से मूदे जाते थे।^३

सामान्यत बिछौना ढाई हाथ लम्बा और एक हाथ चार अंगुल चौड़ा होता था।^४

अनेक प्रकार के आसन, पर्यंक आदि शयन और रथ आदि वाहन काठ से बनाए जाते थे। उसके लिए भिन्न-भिन्न प्रकार का काठ काम में लाया जाता था। लोहे का प्रयोग कम होता था।^५

रथ सवारी का वाहन था और शक्ट प्राय भार ढोने के काम आता था। रथ आदि वाहन तिनिस दृष्टि से बनाए जाते थे।^६

भोजन :

मिष्टान में रसालु को सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। दो पल धूत, एक पल मधु, एक आड़क दही और बीस मिर्च तथा उन सबसे दुगुनी खाण्ड या गुड मिला कर रसालु बनाया जाता था।^७

भोजन के काम में जाने वाली निम्न बस्तुओं का संग्रह किया जाता था—नमक, तेल, धी, फाणिन—राब।^८

१—अगस्त्य चूर्णि ।

२—जिनदास चूर्णि, पृ० २२७ ।

हृष्वपदाग्नितीसंठियं कुण्डमोदं ।

३—दशबोकालिक, ५।१।४५ ।

४—जिनदास चूर्णि, पृ० ३१९ ।

संचारया अद्धाइज्ञा हृष्वा वीहृत्येन, विष्वारो, पुण मृत्यं सप्तउरंकुलं ।

५—दशबोकालिक, ७।२९ ।

६—हारिमद्वीप टीका, पत्र २३९ ।

७—जिनदास चूर्णि, पृ० २८९-२९० ।

दो घयपला मधु पलं दहियस्त य आद्य विरीय वीसा ।

कांडगुला दो भागा एस रसालु निवइजोगो ॥

८—दशबोकालिक, ६।१७ ।

धृति और मधु बड़ों में रखे जाते थे। उन बड़ों को धृति-कुम्भ और मधु-कुम्भ कहा जाता था।^१

तितिर आदि पश्चियों का मांस खाया जाता था और इन पश्चियों को बेक्षणे वाले लोग मली-गली में धूमा करते थे।^२

लोग जटु के अनुसार भोजन में परिवर्तन कर लेते थे। शरद-जटु में बात-पित्त को नष्ट करने वाले, हैमन्त में उण्णा, वसन्त में श्लेष्य को हरने वाले, ग्रीष्म में शीतल और वर्षा में उण्णा पदार्थों का प्रयोग करते थे।^३

धरों में अनेक प्रकार के पानकों से घडे भरे रहते थे। कांजी, तुबोदक, योदक, सौवीर आदि-आदि पानक सर्व-मूलभ थे।^४ हरिभद्र ने पानक का अर्थ आरताल (कांजी) किया है।^५ आचारांग (२।१।७,८) में अनेक प्रकार के पानकों का उल्लेख है। इन्हें विधिवत् निष्पत्ति किया जाता था। आयुर्वेद के ग्रन्थों में इनके निष्पत्ति करने की विधि निर्दिष्ट है। आगमकाल में पेय पदार्थों के लिए तीन शब्द प्रचलित थे—(१) पान, (२) पानीय और (३) पानक। 'पान' से सभी प्रकार के मट्ठों का, 'पानीय' से जल का और 'पानक' से द्राक्षा, खजूर आदि से निष्पत्ति पेय का ग्रहण होता था।^६

पके हुए उड्ड को कुल्माप कहा जाता था।^७ मन्तु का भोजन भी प्रचलित था।^८ सम्भव है यह सुश्रूत का 'मन्त्य' शब्द हो। इसका लक्षण इस प्रकार है, जौ के सत्तू धो में भूत कर शीतल जल में न बहुत पतले, न बहुत सान्द्र धोलने से 'मन्त्य' बनता है।^९

१—जिमदास चूर्णि, पृ० ३३०।

२—बही, पृ० २२९-२३०।

३—बही, पृ० ३१५ :

कालं पद्मस्तु आयरियो दुद्वद्वयत्यो तत्य सरदि बातपित्तहराणि दब्बाणि आहरति, हेमते उज्जाणि, वसंते हिमरहाणि (सिंमहराणि) गिम्हे सीयकराणि, बासासु उज्ज्वल्णाणि, एवं ताच उहुं उहुं पथ मुक्त अद्वाए दब्बाणि आहरिण्णा।

४—दशैकालिक, ४।१।४७-४८।

५—हारिमद्रीय दीक्षा, पत्र १७३ :

पानकं च आरतालादि ।

६—प्रबन्धन सारोकार, द्वार २५६, गाढ़ा १४१० से १४१७।

७—हारिमद्रीय दीक्षा, पत्र १८१।

८—दशैकालिक ४।१।१८।

९—सुश्रूत, सूक्ष्मस्थान, अध्ययन ४६।४२५।

फलमन्त्रु और वीजमन्त्रु का भी उल्लेख मिलता है।^१ अन्य शाश्वत पूज्य भी रहा है और सुधूत के अनुसार इसका उपयोग अनेक प्रकार के रोगों के प्रतिकार के लिए किया जाता था।^२

पूर्व देशबासी ओदन को 'पुद्गल', लाट देश और महाराष्ट्र वाले 'कूर', द्रविड़ लोग 'चौर' और आनन्द देशबासी 'कनायु' कहते थे।^३

कोकण देश वालों को पेया प्रिय भी और उच्चारापञ्च वालों को सत्तु।^४

उस समय जो फल, शाक, शाश्वत, पूज्य आदि व्यवहृत होते थे, उनकी तालिकाएँ नीचे दी जाती हैं :

फल :

(१) फलों के निम्न नाम मिलते हैं :

१. इक्षु (३।१७)।

२. अनिमिष (४।१।७३) अननास। अनिमिष का अर्थ अननास किया गया है। किन्तु इसका अर्थ मत्स्याशूक (पत्ते या मछली) किया जा सकता है। इसे अनि-दीपक, तित्त, चौहा, अर्चा नाशक, कफ और बात को नष्ट करने वाला कहा गया है।^५

३. अस्त्रिक (४।१।७३) अगस्त्रिया, हथिया, हृदगा। इसके फूल और कड़ी भी होती है। इसकी फली का शाक भी होता है।^६

४. तिदुय (४।१।७३) तेनु—यह भारत, लंका तथा पूर्वी बंगाल के जंगलों में पाया जाने वाला एक मझोले आकार का दृश्य है। इसकी लकड़ी को आबनूम कहते हैं।

५. विल्व (४।१।७३)।

६. कोल (४।२।२१) बेर।

१—देशबंधुकालिक, प्रा२।२४।

२—सुधूत, सूत्रस्थान, अध्ययन ४६।४२६-२८।

३—जिनदास चूर्णि, पृ० २०२।३६ :

पुष्पदेसयानं पुणालि ओदनो नण्ड, साइमरकुडाणं कूरो, द्रविडाणां चोरो, अन्नाणां कलायुः।

४—जिनदास चूर्णि, पृ० ३१९।

५—अट्टांगहृदय, सूत्रस्थान, ६।१०० :

पूजूः दीप्तस्तितः चौहाशूकक्षात्तजित्।

६—जालिदास विषद्धु मूलन, पृ० ५२३।

७. वेलुय (५।२।२१) विल्व या वेश करिल ।^१
८. कासवनालिय (५।२।२१) श्रीपर्णि फल, कसार ।^२
९. नीम (५।२।२१) कदम्ब का फल ।^३
१०. कवित्य (५।२।२३) कैथ ।
११. माउलिंग (५।२।२३) बिजौरा ।^४
१२. बिहेलग (५।२।२४) बहेडा ।
१३. पियाल (५।२।२४) प्याल का फल । चिरौजी प्रियाल की मज्जा को कहा जाता है ।^५

फल की तीन अवस्थाएँ बतायी गयी हैं—(१) वेलोचिन—अतिपक्व, (२) टाल—जिसमें गुठली न पड़ी हो, (३) दृष्टिक—जिसकी फाके की जा सके ।^६

आम आदि फलों को इत्रिम उपायों से भी पकाया जाता था । कई व्यक्ति उन्हें गढ़ों में, कोइब धान्य में तथा पलाल आदि में रख कर पकाते थे ।^७

अष्टांगहृदय में आम की तीन अवस्थाओं का उल्लेख है और उनके मिन्न-मिन्न गुण बताए हैं—(१) बन्द्वा नाम (बिना गुठली का टिकारो) यह वायु, पितृ और रक्त को दूषित करता है, (२) कन्चा आम (गुठली पड़ा हुआ) यह करु-पित कारक होता है, (३) पका आम—यह गुरु, वायु-नाशक होता है और जो अम्ल होता है वह कफ एवं शुक को बढ़ाता है ।^८

१.—अपार्व्य वूर्णि :

वेलुयं विल्वं वंसकरिलो वा ।

२.—बहरी :

कासवनालियं सीबल्ली फलं कस्ताकं ।

३.—वेलो वशवैकालिक (माग २), पृ० ३०६, दिष्पन ३८ ।

४.—बीजुर, मानुलिय, रुचक, फल पूरक—इसके पर्यायवाची नाम हैं । वेलो श/लियाम निष्ठु शूषण, पृ० ५७८ ;

५.—मज्ज/ज्ञहृदय, शूज त्वान, ६।१२३-२४ ।

६.—वशवैकालिक ७।३२ ।

७.—हरितिरीय दीक्षा, पञ्च २१९ :

गतिशेषकोइवपलालादिना विपाक्य नक्षण्योवासीति ।

८.—भ्रांगहृदय, शूज त्वान, ६।१२८,१२९ :

बातविलासृष्टहृद बालं, बद्धास्तिकक्षितहृद ।

गुर्वाङ्गं बातजित, पर्व, त्वादम्बं कफगुक्षात् ॥

शाक

निम्न शाकों के नाम प्राप्त होते हैं :

- (१) मूली (३।७)
- (२) सिंगवेर (३।७) बार्डक । यह शाक या अन के लाद, पेय पदार्थ बनाने में संस्कार करने के लिए (मशाले के स्पष्ट में) प्रयुक्त होता था ।^१
- (३) नमिन (५।१।७०) पस्ती का शाक ।
- (४) तुबाग (५।१।७०) धीया ।
- (५) सालूर्य (५।२।१८) कमल कन्द ।
- (६) विरालिय (५।२।१८) पलाश कन्द । इसे क्षीर-विदारी, जीवन्ती और गोवहङ्गी भी कहा जाता था ।^२
- (७) मुणालिय (५।२।१८) पद्म-नाल । यह पथिनी के कन्द से उत्पन्न होती है और उसका आकार हाथी दाँत जैवा होता है ।^३
- (८) कुमद-नाल (५।२।१८) ।
- (९) उत्तल-नाल (५।२।१८) ।
- (१०) सासवनालिय (५।२।१८) सरसों की नाल ।
- (११) पूट (५।२।२२) पोई शाक । पूति—यह 'पूतिकरज' का संजित भी हो सकता है । शाकवर्ग में इसका उल्लेख भी है । चिरबिल्व (पूतिकरज) के अंकुर अग्नि-दीपक, कफ-वात-नाशक और मल-रेचक हैं ।^४
- (१२) पिनाग (५।२।२२) पिण्याक—सरसों आदि की खली ।
- (१३) मूलगत्तिय (५।२।२३) मूलक-पोतिका—कच्ची मूली ।^५ अट्टांगहृदय में बाल (कच्ची, अपक्व) और बड़ी (पक्की) मूली के गुण-दोष भिन्न-

१—सुभूत, सूत्र स्थान, ४।६।२२।१ २२२ ।

२—अगस्त्य चूर्ण :

विरालिय पलाशकंदो व्यवा छीरविराती जीवन्ती, गोवहङ्गी इति एता ।

३—जिनदास चूर्ण, पृ० १९७ :

मुणालिया गवदंतत्त्वमिमा पउभिञ्चिरादातो निलम्भति ।

४—अट्टांगहृदय, सूत्र स्थान, ५।१९ ।

५—सुभूत, ४।६।२५७ ।

किन बतलाए गए हैं ?^१ सुभूत में छोटी मूली के लिए मूलक-प्रोतिका शब्द अवश्यक हुआ है।^२ मूलगतिया का संस्कृत रूप यही होना चाहिए।

खाद्य :

निम्न व्यञ्जनों के नाम मिलते हैं :

- (१) सक्कुलि (५।१।७।) शक्कुली—तिलपपड़ी।^३ चरक और सुभूत में इसका अर्थ कच्ची आदि किया है।^४
- (२) कणिय (५।१।७।)—गीला गुड (राब)।
- (३) पूय („)—पूआ।
- (४) सत्तुचुर्ण („)—शक्तु चुर्ण—सत्तु का चूर्ण।
- (५) मंथु (५।१।६।)—बेर जी आदि का चूर्ण।
- (६) कुम्मास („)—कुल्माष—गोल्ल देश में वे जी के बनाए जाते थे।^५ तिल पपडग (५।२।२।) तिल पर्णटक। इसका अर्थ तिल पपडी किया गया है। किन्तु हो सकता है कि इसका अर्थ बनस्ति वरक हो। शाक वर्ग में तिल पर्णिका (बदरक) और पर्णट (पित्तपापडा) का उल्लेख मिलता है।^६ ‘तिल’ तिल-पर्णिका का संक्षिप्त रूप हो तो तिल पपडग का अर्थ तिल पर्णिका और पित्त-पापडा भी हो सकता है।
- (७) चाउलंपिटु (५।२।२।२)—चावल का आटा^७ या भूने हुए चावल।^८

१—अर्टांगहृष्ण, पूत्र स्थान, ६।१०२-१०४।

२—सुभूत, सूत्र स्थान, ४।६।२४० :

कहुतिक्तरसा हृष्णा रोबकी वह्निवीपनी।

सर्वदोषहरा लब्धी करव्या शूलकपोतिका॥

३—जिनदास चूर्णि, पू० १८४ : सक्कुलीति पर्याप्तिकादि।

४—सुभूत—सक्षयपरार्थ वर्ग ४।६।५४४।

५—जिनदास चूर्णि, पू० १९० :

कुम्मासा जहा गोल्लबिसए जबमया करेति। देखो वस्त्रेकालिक (भाग २) पू० २८५, दिप्पण २२९।

६—अर्टांगहृष्ण, सूत्र स्थान ६।७६।

७—अर्टांगहृष्ण पू० १९८ :

चाउलं पिटो लोहो।

८—जिनदास चूर्णि, पू० १९८ :

चाउलं पिटूं चटूं भवह।

कल्पे चाकलों का आटा भी साया जाता था। सुश्रुत में इसे भज्ञ संचानकर, कृषि और प्रमेह को नष्ट करने वाला बताया गया है।^१

(५) तिलपिण्ड (५।२।७२)—तेल का पिण्ठ।

(६) तेल (६।१७)।

(१०) घृत (६।१७)।

(११) पिण्ड-खज्ज (७।३।४) पृथु खाद्य।

चूर्ण और मन्थु

कोल चुन्न (५।१।७।) बैर का चूर्ण।

फल मन्थु (५।२।२।४) फलों का चूर्ण।

बीज-मन्थु (५।२।२।४) जौ, उडद मूँग आदि बीजों का चूर्ण।

पुष्प

उत्तमल (५।२।१।४) नील-कमल।

पद्म (५।२।१।४) रत्न-कमल।

कुमुद (५।२।१।४) स्वेत-कमल। इसका नाम गदम है।^२

मणितिका (५।५।१।४) मोगरा मेहदी।^३

सुश्रुत अष्टागहृदय आदि आयुर्वेदिक ग्रन्थों के शाक वग में इन शाकों का उल्लेख मिलता है। फल-वग में यहाँ आए हुए फलों का भी उल्लेख है। पिण्डाक, तिलपिण्ड आदि भी खाए जाते थे। सुश्रुत में बताया है कि पिण्डाक (सरसो, अलसी आदि की खली) तिल कल्क या तिलों की खल, स्वूणिका (तिल कल्क स बने-बढ़) तथा सूखी शाकों सर्व दायों को प्रकृषित करते हैं।^४

१—सुश्रुत, सूत्र स्वातं ४।६।२।१७

सन्धानहृत् पिण्ठमाम ताष्ठुल कृमिमेहनुत।

२—अगस्त्य चूर्णि

कुमुदं गहनमां।

३—हारिमद्रीय दीका, (पत्र १८५) में इसका अर्थ मोगरा किया है। अज्ञांग हृदय (चिकित्सा स्वातं २।२।७) में नवयन्तिका शब्द आया है और उसका अर्थ मेहदी किया है। रत्न-पित नाशक स्वाद लेयार करने में इसका उपयोग होता था। संभव है नाशिका और नवयन्तिका एक शब्द हों।

४—सुश्रुत, सूत्र स्वातं, ४।६।२।१७ :

पिण्डाक-तिलकल्क स्वूणिका गुणशाकानि सर्वदोषप्रसानि।

कमल कन्द, पलाशकन्द, पद्म-नाल, सरसों की नाल, कुमुद-नाल, उत्तम-नाल आदि-आदि अपकथ लाए जाए जाते थे ।^१

सरसों की नाल शीत-काल में उष्ण होती है—यह मानकर लोग उसे कच्ची खाले लेते थे ।^२

भोजन को नमी तथा जीव-जन्मुओं से बचाने के लिए भवाने सम्मे और प्रासाद पर रखा जाता था । भवान घार लट्ठों को बाध कर बनाया जाता था । उस पर बढ़ने के लिये निसेनी फलक और पीढ़ का उपयोग होता था ।^३

बाजारों में मिठाइयाँ बिक्री के लिए रखी जाती थी ।^४

जिस भोजन में छोका हुआ शाक और व्येठ मात्रा में सूप दिया जाता, वह अच्छा भोजन माना जाता और जिसमें बदार-रहित शाक होता, वह साधारण (शुष्क) भोजन माना जाना था ।^५

भोजन आदि को ढाठा करने के लिए तथा अपने बाप में हवा लेने के लिए ताल-वृत्त, पदिमनी-पत्र तृक की डाली, मोर-पीच्छा मोर-पीच्छों का समूह, चामर आदि का उपयोग किया जाता था ।^६

आभूषण :

सोने चादी के आभूषण बनाए जाते थे । सोने के आषभूणों में हीरा, इन्द्र-नील भरकन और मणि जड़े जाते थे ।^७ मस्तक पर चूडामणि बाँधा जाता था ।^८

प्रमाधन :

प्रसाधन में अनेक पदार्थों का उपयोग होता था । होठ नथा नसों को रगना, पैरों पर अलक्षक रस लगाना, दौतों को रगना अदि किया जाता था ।

१—जिनदास चूर्णि, पृ० १९७ ।

२—बही, पत्र १९७ :

सिद्धत्वगणालो तमवि लोभोऽणसंतिकाङ्ग आमगं चेष्ट खायति ।

३—दशबोकालिक ५।११६७ ।

४—बही, ५।१।७३,७२ ।

५—दशबोकालिक, ५।१।९८ ।

६—दशबोकालिक, ४ पत्र २१ ।

७—जिनदास चूर्णि, पृ० ३३० :

बहुरिवनीलमरगयमणिणो इव जच्चकणगसहस्रंदा ।

८—बही, पत्र ३५० :

चूलामणी ता य सिरे कीर्दा ।

स्नान दो प्रकार से होता था—देश स्नान तथा सर्व स्नान। देश स्नान में मस्तक को छोड़कर शेष अंग छोए जाते थे और सर्व स्नान में मस्तक से एही तक सर्वाङ्ग स्नान किया जाता था। स्नान करने में उष्ण या ठंडा दोनों प्रकार का जल काम में आता था तथा अनेक प्रकार के पदार्थ भी काम में लाए जाते थे।

(१) स्नान—यह एक प्रकार का गन्ध-चूर्ण था, जिससे शरीर का उद्कर्तन किया जाता था।

(२) कल्प—स्नान करने से पूर्व तेल-मर्दन किया जाता और उसकी चिकनाई को मिटाने के लिए पिसी हुई दाल या आबले का सुखित उबटन लगाया जाता था। इसे कल्प, चूर्ण-कवाय या गन्धाटुक कहा जाता था।

(३) लोध—यह एक प्रकार का गन्ध द्रव्य था, जिसका प्रयोग इखत-नाश्हर छवि करने के लिए किया जाता था।

(४) पद्मक-पद्माक-पद्म-केसर।^१

आमोद-प्रमोद तथा मनोरंजन :

स्थान-स्थान पर इन्द्रजालिक घमते थे और लोगों को आकृष्ट करके अपनी आजीविका चलाते थे।^२ नट विद्या का प्रचार या नाय मण्डलियाँ स्थान-स्थान पर घूमा करती थीं।^३ ये मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। शतरंज खेला जाता था।^४ नालिका एक प्रकार का चूत था। चतुर-खिलाड़ी अपनी इच्छानुसार पासा न डाल दे—इसलिए पासों को नालिका द्वारा डाला जाता था।^५

नार के समीप उद्धान होते थे। वे अच्छे युक्तों से सम्पन्न और उत्सव आदि में बहु-जन उपभोग्य होते थे। लोग यहा उद्यानिका—सहभोज करते थे।^६ बालक भी स्थान-स्थान पर यनुष्य कीड़ा करते थे।^७ ये महिय कुकुट और लावक को आपस में लडाया जाता था और हजारों व्यक्ति उसे देखने एकत्रित होते थे।^८

१—जिनदास चूर्णि, पृ० २३२।

२—बही, पृ० ३२१।

३—बही, पृ० ३२२।

४—देशवैकालिक ३।४।

५—बही, ३।४।

६—जिनदास चूर्णि, पृ० २२।

७—बही, पृ० १७।७२।

८—बही, पृ० २६२।

विश्वास :

वैदिक परम्परा में विश्वास रखने वाले लोग बादल, आकाश और राजा को देव मानते थे और उनकी उस विश्वि से पूजा भी करते थे।^१ दृष्ट-पूत्रा का प्रचलन था।

रोग और चिकित्सा :

शारीरिक बेगों को रोकने से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। मूत्र का बेग रोकने से चक्षु की ऊर्ध्वता का नाश होता है।^२ मूल का बेग रोकने से जीवनी-शक्ति का नाश होता है। ऊर्ध्व बायु रोकने से कुष्ठ रोग उत्पन्न होता है और वीर्य का बेग रोकने से पुरुषत्व की हानि होती है।^३ बमन को रोकने से बल्मुली या कोढ़ भी उत्पन्न हो जाता है।^४ सह्ल पाक आदि पकाए हुए तेल अनेक रोगों में काम आते थे।^५

नक्षत्रों के आधार पर शुभ-अशुभ बताने वाले, स्वन-शास्त्री, वशीकरण के पार गामी, अतीत-अनागत और वर्तमान को बताने वाले नैमित्तिक तथा यांत्रिक सर्वत्र पाए जाते थे। लोगों का इनमें बहुत विश्वास था। सर्प, विष्णु आदि के काटने पर मंत्रों का प्रयोग होता था।^६ अन्यान्य विशेषों को उतारने के लिए तथा अनेक शारीरिक पीड़ाओं के उपशमन के लिए मंत्रों का प्रयोग होता था।^७

संबाधन-पद्धति बहुत विकसित थी। अनेक व्यक्ति उसमें शिक्षा प्राप्त करते थे और याँद-गाँद में घूमा करते थे। संबाधन चार प्रकार से किया जाता था—(१) हड्डियों को आराम देने वाला-अस्त्रिमुख। (२) मांस को आराम देने वाला—मांस-मुख। (३) चमड़ी

१—वैश्वाकालिक, ७।५२

२—अगस्त्य चूर्णि :

मुत्तनिरोहे चक्षुं, चक्षनिरोहे य जीवियं चर्यति ।

उड्ढं निरोहे कोदं, सुकनिरोहे मनह अपुमं ॥

३—जिनवास चूर्णि, पृ० ३५४,३५५ :

अस्मवहरिङ्ग मुहेण उभिसियं वंतं तस्य पदिपीयं च तहा विहियं सर्वति,

तं अतीव रते न बलं, न उच्छाहकारी, जिलीगतया च पदिष्टि, अमुर्दि चा

जययति ततो कोदं चा जययति ।

४—वही, पृ० २५९ ।

५—वैश्वाकालिक, ८।५१ तथा हारिनदीप दीका, पृ० २३६ ।

६—जिनवास चूर्णि, पृ० ३४० ।

७—वही, पृ० ११३ ।

को आराम देने वाला—त्वक् सुख । (४) रोबो को आराम देने वाला—रोम-सुख ।

शिरोरोग से बचने के लिए धूम्र-पान किया जाता था । धूम्र-पान करने की नली को 'धूमनेत्र' कहा जाता था । शरीर, अन और वस्त्र को सुवासित करने के लिये धूम्र का प्रयोग करते थे । रोग की आशंका से बचने के लिए भी धूम्र का प्रयोग किया जाता था ।^१

बल और रूप को बढ़ाने के लिए वमन, वस्तिकर्म और विरेचन का प्रयोग होता था । वस्ति का अर्थ है, हृति हृति से अधिष्ठान (मल-द्वार) में वी आदि दिया जाता था ।^२

उपासना :

पंचांग नमस्कार की विधि प्रचलित थी । जब कोई गुह के समक्ष जाता तब वह दोनों जानु को भूमि पर टिका, दोनों जोड़े हुए हाथों को भूमि पर रख उनपर अपना शिर टिकाता है । यह वन्दन-विधि सर्वत्र मान्य थी ।^३

यज्ञ ।

माहितान्मि ब्राह्मण अनेक प्रकार से मंत्रों का उच्चारण कर अभिनि में घृत की आहुति देते थे । वे निरन्तर उस घृत-सिंक अभिनि को प्रजलित रखते और उसकी सतत सेवा करते थे ।^४ अभिनि में बसा, हविर और मधु की भी आहुति दी जानी थी ।^५

दण्डविधि :

दास-दासी या नौकर-चाकर जब कोई अपराध कर लेते तब उन्हें विविध प्रकार में दण्डित किया जाता था । कुछ एक अपराधों पर इन्हें लाठी से पीटा जाता, कभी भाले आदि शस्त्रों से आहत किया जाता और कभी केवल कठोर शब्दों में उपालम्भ मात्र ही दिया जाता था । भोजन-पानी का विच्छेद करता भी दण्ड के अन्तर्गत जाता था । कई अपराधों पर भोजन-पानी का विच्छेद करते हुए कहा जाता—‘इसे एक बार ही भोजन

१—(क) दशबैकालिक, ३।९ ।

(क) जिनदास धूर्णि, पृ० ११५ ; हारिमदीप दीक्षा, पत्र ११८ ।

२—जिनदास धूर्णि, पृ० ११५ ।

३—जही, पृ० ३०६ ।

पंचगीएष वंदनिएष संजहा—जाणुमुण्ड धूमीए निविदिएष हस्तदुएष धूमीए
अवहुमिय ततो सिरं पंचमं निवाएज्जा ।

४—(क) दशबैकालिक, १।१।१ ।

(क) जिनदास धूर्णि, पृ० ३०६ ।

५—जिनदास धूर्णि, पृ० ३६३ ।

…दसार्ह हिरमहुषयाइहि हृथमाणो ।

देना और एक शराब मात्र ही पानी। इसे एक दिन, दो दिन या अमुक दिनों तक भोजन नह देना।^१

शिक्षा :

शिक्षाओं के अनेक केन्द्र थे। स्वर्णकार, लोहकार कुम्भकार आदि का कर्म, कारी-गरी, कौशल, बाण-विद्या, लोकिक कला, चित्रकला आदि-आदि के स्थान-स्थान पर शिक्षा-केन्द्र होते थे। वहाँ विविध शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी : अनेक स्त्री-पुरुष वहाँ शिक्षा आस करते थे। वहाँ के संचालक—गुरु उन विद्यार्थियों को शिल्प में नियुण बनाने के लिए अनेक प्रकार से उपालभ्य, ताडना-तर्जना देते थे। राजकुमार भी इसके अपवाद नहीं थे। सांकल से बांधना, चाकुक आदि से पीटना और कठोर-बाणी से भर्तना करना—ये विधियाँ अध्यापन-काल में अध्यापक-बर्ग द्वारा विहित मानी जाती थीं।^२

विद्यार्थी अपने गुरुजनों को भोजन-वस्त्र आदि से सम्मानित करते थे।^३

सम्बोधन :

विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के 'सम्बोधन-शब्द' प्रचलित थे :

(१) हले—इम आमंत्रण का प्रयोग वरदा तट में होता था^४ तथा महाराष्ट्र में तरुण स्त्री का सम्बोधन शब्द था।^५

(२) अन्ने—इसका प्रयोग महाराष्ट्र में तरुण^६-स्त्री तथा वेश्या के सम्बोधन में होता था।^७

(३) हला—यह शब्द लाट देश में प्रचलित था और इससे तरुण-स्त्री को सम्बोधित किया जाता था।^८

१—जिनदास चूर्णि, पृ० ३११, ३१२।

२—(क) ब्राह्मेकालिक, ११२। १३, १४।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृ० ३१३, ३१४।

३—बही, पृ० ३१४।

४—बही, पृ० २४० :

तथा वरदा तटे हलेति आमंत्रण।

५, ६—अगस्त्य चूर्णि :

हले अलेति नरहुत्तु तरक्तरी आमंत्रण।

७—जिनदास चूर्णि, पृ० २५० :

अलेति नरहुत्तिये आमंत्रण, दोमूलकरण वानुवयनं अलेति।

८—अगस्त्य चूर्णि :

हलेति लाडेतु।

- (४) नट्टे—यह पुत्र-रहित स्त्री के लिए प्रयुक्त होता था^१ और लाट देश में इससे ननद का बोध होता था।^२
- (५) सामिणी—यह चाटूना का आमंत्रण शब्द था^३। तथा लाट देश में प्रयुक्त होने वाला समान-सूचक सम्बोधन-शब्द था।^४
- (६) होल, गोल, बमुल—ये तीनों गोल देश में प्रचलित प्रिय-आमंत्रण थे।^५
- (७) गोमिणी—इसमें चाटूना का बोध होता था और यह सभी देशों में प्रयुक्त होता था।^६
- (८) अष्णा—महाराष्ट्र में पुनर्व के सम्बोधन के लिए प्रयुक्त होता था।^७
- (९) हे, भो—ये सामान्य आमंत्रण थे।^८
- (१०) भटि, सामि, गोमि—ये पूजा वाची शब्द थे।^९
- (११) होल—यह प्रभवाची शब्द था।^{१०}

मध्य प्रदेश में वयोवृद्धा स्त्री को 'ईश्वरा', कही उमे 'धर्म-प्रिया' और कही 'धर्मशीला' कहा जाता था।^{११}

१—अगस्त्य चूर्णिः :

मट्टेति अवभरहित वयनं पायो लाडेमु ।

२—जिनदास चूर्णिः, पृ० २५० :

मट्टेति लाडाणं दतिभगिणी भण्डाइ ।

३,४—बही, पृ० २५० ।

५—अगस्त्य चूर्णिः :

होले गोले वासुलेति वेसिए लालजगत्वाणीयाणि भिक्षवयणमंतकाणि ।

६—जिनदास चूर्णिः, पृ० २५० :

गोमिणिको चाटुए वयनं ।

७—बही, पृ० २५० :

अज्जेति मरहटुविसए भामंतरं ।

८—बही, पृ० २५० ।

९—अगस्त्य चूर्णिः :

मट्टि, सामि, गोमिया पूया वयणाणि भित्तेसातिषु सज्ज भित्तिषु ।

१०—बही :

होलइति पमुचवनं ।

११—हारिमारीय दीका, पत्र २१३ :

तत्र वयोवृद्धा मध्यवेसे ईश्वरा धर्मप्रियाऽन्यत्रोच्यते धर्मशीले इत्यादिला ।

नाम दो प्रकार के होते थे—गोच-नाम और व्यक्तिगत-नाम । व्यक्ति को इन दोनों से सम्बोधित किया जाता था । अवस्था की हड्डि से जिसके लिए जो उचित होता था, उसी प्रकार उसे सम्बोधित किया जाता था ।^१

राज्य-अवस्था :

राजाओं के अनेक लेव थे—मण्डलीक, महामण्डलीक आदि-आदि ।^२ जो बद्ध-मुकुट होते, उन्हें राजा, मत्री को राजामात्र और सेनापति आदि को 'दंडनायक' कहा जाता था ।^३ राजा के बल क्षत्रीय ही नहीं होते थे । कई क्षत्रीय होते पर राजा नहीं, कई राजा होते पर क्षत्रीय नहीं ।^४

जिसमें लक्ष्मी देवी का चित्र अवित हो वैसा बेट्टन बांधने की जिसे राजा के द्वारा अनुभा मिली हो, वह श्रेष्ठी कहलाता है ।^५ हिन्दू राज्यतंत्र में लिखा है कि इस सभा (पौर सभा) का प्रधान या सभापति एक प्रमुख नगर-निवासी हुआ करता था जो साचारणतः कोई व्यापारी या महाजन होता था । आजकल जिसे मेघर कहते हैं, हिन्दुओं के काल में वह 'श्रष्टि' या 'प्रधान' कहलाता था ।^६

बगस्स्यसिंह स्थिर ने 'ओछी' को वणिक-नाम का महत्तर कहा है ।^७ इसलिए यह पौराध्यक्ष नहीं, नैगमाध्यक्ष होना चाहिए । वह पौराध्यक्ष से भिन्न होता है ।^८ सम्भवत नैगम के समान ही पौर सभ्या का भी एक अध्यक्ष होता होगा जिसे नैगमाध्यक्ष के समान ही श्रेष्ठी कहा जाता होगा, किन्तु श्रेष्ठी तथा पूर्ण के साचारण श्रेष्ठी से इसके अन्तर को दर्श करने के लिए पौराध्यक्ष के रूप में श्रेष्ठी के साथ राजनगरी का नाम भी जोड़ दिया

१—बाबौकालिक ७।१७,२० ।

२—जिनदास चूर्णि, पृ० ३६०

३—नहीं, पृ० २०८ ।

४—नहीं, पृ० २०९ ।

५—सिरिव भाष्य, भाषा २५०३, समाप्त्यूर्णि भाषा २, पृ० ४५० :

सिर्व य पटे सिरिवादेवी कल्पति तं वेष्टनं, तं अस्त रस्ता अशुलातं सो
लेही नम्भति ।

६—हिन्दू राजसंग्रह, दूसरा संस्करण, पृ० १३२ ।

७—(क) अगस्त्य चूर्णि :

राज्यमुत्तमसम्भालो समाविद्वेदुठो बविलाममहत्तरो य लेही ।

(क) जिनदास चूर्णि, पृ० ३६० ।

८—कम-निरपेक्ष प्राचीन भारत की प्रजातंत्रात्मक परम्पराएँ पृ० १०६ ।

जर्ता होता, जैसे—राजगृह सेठी तथा एक आवस्ती शेषी । लिंगौष जातक (४४५) में राजगृह शेषी तथा एक अन्य लाघारण शेषी में स्कृष्ट बत्तर किया गया है ।

जनपद :

सारा देश अनेक भागों में विभक्त था । प्राम, नगर आदि की विशेष रक्षाएँ और अल्पराएँ होती थीं । इस सूच में तीन शब्द आए हैं—प्राम, नगर और कर्बट (कम्बड) ।

१. प्राम—जिसके चारों ओर कांटों की बाढ़ हो अथवा मिट्टी का पर्कोट हो । जहाँ कैवल कर्मकर लोग रहते हों ।

२. नगर—जो राजधानी हो और जिसमें कर न लगता हो ।^१

३. कर्बट—इसके अनेक अर्थ हैं—

(१) कुन्तर जहाँ क्रय-विक्रय न होता हो ।^२

(२) बहुत छोटा सम्बिनेश ।^३

(३) वह नगर जहाँ बाजार हो ।

(४) जिले का प्रमुख नगर ।^४

चूणियों में कर्बट का मूल अर्थ माया, कूटसाक्षी आदि अप्रामाणिक या अनैतिक व्यवसाय का आरम्भ किया है ।^५

शस्त्र :

शस्त्र अनेक प्रकार के होते थे^६—(१) एक धार वाले—परशु आदि । (२) दो धार वाले—शलाका, बाण आदि । (३) तीन धार वाले—तलवार आदि । (४) चार धार वाले—चतुर्खण्ड आदि । (५) पाँच धार वाले—अजानुकूल आदि ।

१—(क) हारिमत्तीय टीका, पत्र १४७ ।

नास्मिन् करो विद्वत् इति नकरम् ।

(क्ष) सोकप्रकाश, संग ३१, स्लोक ९ :

नगरं राजधानी स्यात् ।

२—जिनदास चूर्णि, पृ० ३६० ।

३—हारिमत्तीय टीका पत्र २७५ ।

४—A Sanskrit English Dictionary, Page 259. By Sir Monier Williams.

५—जिनदास चूर्णि, पृ० ३६० ।

६—वही, पृ० २२४ :

सासिंद्रिङ्ग जेण तं सर्वं, किञ्चि एगधारं तुषारं लित्वारं चतुर्धारं पंचधारं

...तत्प लगधारं परत्पु, तुषारं कम्बो, लित्वारं असि, चतुर्धारं लित्वत्तो
कम्बीयो, पंचधारं अजानुकूलं ।

याचना और दान :

याचना के अनेक प्रकार प्रचलित थे—

कई याचक कहते—“हम भूमिदेव हैं, लोगों के हित के लिए हम भूमि पर अवतीर्ण तुम हैं। हमें ‘दिग्दर’ आदि देने से पुण्य होता है।”

कई कार्यात्मक आदि याचक आजीविका के लिए घर-घर बूझा करते थे।

भूमिपक पौष्ट्र प्रकार के होते थे—(१) अतिथि-बनीपक—अतिथि-दान की प्रशंसा कर दान लेने वाले। (२) हृषण-बनीपक—हृषण भक्त के सम्मुख हृषण-दान की प्रशंसा कर दान लेने वाले। (३) ब्राह्मण-बनीपक—ब्राह्मण-दान की प्रशंसा कर दान लेने वाले। (४) इष्ट-बनीपक—जो व्यक्ति कुत्ते के भक्त होते थे, उनके सम्मुख इष्ट-दान की प्रशंसा कर दान लेने वाले। वे कहते—“गाय आदि पशुओं को धास मिलना मुलभ है, किन्तु छि छि कर दुक्तारे जाने वाले कुत्तों को भोजन मिलना मुलभ नहीं। ये कैलाश पर रहने वाले यक्ष हैं। ये भूमि पर यक्ष के रूप में विहरण करते हैं।” (५) अमण-बनी-पक—अमण-भक्त के सम्मुख अमण-दान की प्रशंसा कर दान लेने वाले।

कई व्यक्ति तीर्थ-स्थान में धन की आशा से भाले की नोक या बबूल आदि के कट्ठों पर बैठ या सो जाते थे। उधर जाने वाले व्यक्ति उनकी दयनीय दशा से द्रवित हो कहते—उठो, उठो जो तुम चाहोगे, वही तुम्हें देंगे। इतना कहने पर वे उठ जाके हो जाते।^१

प्रत्येक घर में एक ऐसी सीमा होती थी, जहाँ बनीपक आ-जा सकते थे। इसके अतिक्रमण को बुरा समझा जाता था।^२

स्थान-स्थान पर दान-शालाएँ होती थीं। उनके अनेक प्रकार थे। ‘किमिच्छाइ’ एक प्रकार की दानशाला थी, जहाँ याचक से ‘तुम क्या चाहते हो’—यह पूछकर दान दिया जाता था।^३

दिवेश-नाचा से लौटकर थ्रेष्ठि प्रसाद भाव से सर्व पालण्डियो (सब सम्प्रदाय

१—जिनदास चूर्णि, पृ० ३२० :

बहा कोवि लोहमयांदाम लस्त्रेऽन सप्तमेव उच्छ्वासामा च परामिदोगेष
तेसि लोहकंदगाम उवर्ति शुचिक्षति, ते य अन्ने पासिसारा किवाचरिण्यक्षेतता
अहो वरामारा एते अस्त्वहेवं हन्ते आवहं पत्रिति भग्नंति बहा उहेह उद्देहति, च
नम्नह ते ते लक्ष्मांदामिक्षिन्नतरीरा उहेति ।

२—सप्तमेकालिङ्ग, ५। ११४ ।

३—चूर्णि, ३। ३ ।

के साथूओ) को दान देने के नियम भोजन बनाते थे । महाराष्ट्र के राजा दान काल में सम्मानस्व से दान देते थे ।^१

भोज :

जीवनवार अनेक प्रकार के होते थे—(१) आकीर्ण जीवनवार—यह राजकुल के किसी व्यक्ति या नगर-सेठ द्वारा किया जाता था । इसमें भोजन के लिए आने वालों की संख्या अधिक होती थी । (२) अवमान जीवनवार—इसमें स्वरूप और पर-पक्ष के लोग ही भाग लेते थे और इसमें जीमने वालों की संख्या निश्चित होती थी ।^२

मृत्यु पर तथा पितर आदि देवों के प्रीति-सम्मानार्थ संखडि (भोज) किए जाते थे । उन्हें 'कुर्स' कहा जाता था ।^३ मजिममनिकाय (१४४८) में इसे 'सखति' कहा है ।

मनुष्य का स्थान :

उत्तम जाति वाले पुरुष नीच जाति वालों को धृणा की दृष्टि से देखते थे । वे उनके पंतों में नहीं पढ़ते थे ।^४

जाति, कुल, कर्म, शिल्प और कुछ विशेष रोग आदि के आधार पर मनुष्य तिरस्कृत माने जाते थे ।^५

जाति से—स्लेष्य जाति । कुल से—जारोत्पत्ति । कर्म से—त्यक्त पुरुषो द्वारा सेवनीय । शिल्प से—चर्मकार । रोग से—कोही ।

१—(क) दक्षरैकालिक ५। १। ४८ ।

(का) अगस्त्य चूर्णि :

कोति इस्तरो पवासागतो सामुसहेण सम्बस्त आगतस्त सकारणनिमित्तं
दानं देति, रावाणो वा मरहुद्गा दानकाले अविसेसेण देति ।

२—(क) दक्षरैकालिक चूर्णिका २।६ :

(का) हारिनद्रीय टीका, पत्र २८० ।

३—हारिनद्रीय टीका, पत्र २।४ ।

४—किलदास, चूर्णि, पृ० ३।६ :

जातीए इक्षिणार्थं चहति, जहा हूं उत्तमजातीओ कहनेतरत पावे लभिहानिति ।

५—कही, पृ० ३।६ :

अद्युपारह नाइतो कुलओ कम्मादो सिष्यो वाहिको वा नवति जाइओ जहा
तुमं मेच्छकाइती, कुलो जहा तुमं कारवालो, कम्मो जहा तुमं जडेहि
मध्यवीणो, सिष्यो जहा तुमं तो कम्मारो, वाहिके जहा तुमं तो
कोहिको ।

कर्तव्य और परम्परा :

भाता-पिता कल्पा के पर के चुनाव में बहुत सतर्क रहते थे ।^१

दक्षिणापथ में मामी की लड़की से विवाह किया जा सकता था, उत्तरापथ में नहीं । दक्षिण और उत्तर के लाग-पाल, रहन-सहन आदि भिन्न थे ।^२

गाँवों में अकेली स्त्री भी इधर-उधर आ-जा सकती थी, परन्तु नगरों में वह दूसरी स्त्री को साप के जाती थी ।^३

व्यापार-यात्रा :

लोग व्यापार के लिए दूर-दूर देशों में जाते थे । जब पुत्र देशान्तर के लिए प्रस्थान करता तब पिता शिक्षा के शब्दों में कहता—“पुत्र ! अकाल चर्चा और दुष्ट-सर्सां से बचने का सदा सर्वत्र प्रयत्न करना ।” वे बार बार इस शिक्षा को दोहराते थे ।^४

पुस्तक :

पुत्रके पाँच प्रकार की होती थीं—

(१) गंडी—वह मोटाई और बौढ़ाई में सम होनी थी ।

१-वश्वेतकालिक, १।३।१३ ।

२-हारिमझीय टीका, पत्र २२ :

यथा दक्षिणापथे मातुलुहुतिरा गम्या उत्तरापथे पुनराम्बद्ध, एवं भक्ष्याभक्ष्यपेता-
पेयविमावा कर्तव्येति ।

३-बही, पत्र २२ :

पुरवर्षम्—प्रतिपुरवरं भिन्नः वस्त्रिकिञ्चिद्विलिटोऽपि वीरमावाप्रदानादि-
स्तकम् तद्वितीया योविद्वेषान्तरं गच्छतीत्यादिस्तकम् वा ।

४-विनदास चूर्णि, पृ० ३४० ।

५-हारिमझीय टीका, पृ० २५ ।

गंडी कच्छवि मुट्ठी संपुरुषकलए तहा छिकाड़ी वा ।

एवं पोत्प्रवर्षम् पक्षात् बीमराएहि ॥

बाल्हुमुक्तेहि गंडी पोत्वो उ तुक्षणो दीहो ।

कच्छवि अते तण्डो मर्जके पितॄलो मुतोमन्तो ॥

बदरंगुलवीहो वा बहानिति मुहुर्हिपोत्वणो बहवा ।

बदरंगुलवीहो विव बदरस्तो होई विलोमो ॥

संयुक्तो मुगमाई फलमा बोच्छं छिकाडिमेत्ताहे ।

तमुपस्तोलिवक्ष्यो होइ छिकाडी मुहा बेति ॥

बीहो वा हस्तो वा जो चिक्कलो होइ अल्पवाहस्तो ।

तं चुमिल तम्पत्तारा छिकाडिपीत्वं नगंतीह ॥

- (२) कच्छपी—वह बन्त में पतली और मध्य में विस्तीर्ण होती थी ।
 (३) मुष्टि—वह लम्बाई में चार अंगूल अथवा त्रुटाकार होती थी अथवा चार अंगूल लम्बी, चतुर्भुज बाली होती थी ।
 (४) संपुटक—यह दो फलकों में बंधी हुई होती थी और
 (५) सुपाटिका—इसका विस्तार अधिक और मोटाई कम होती थी । यह लम्बी भी होती थी और छोटी भी । सम्मिलित इसका आकार चौथ जैसा होता था ।

धातु :

सोना केवल आभूषण बनाने के ही काम नहीं आता था, वह अन्यान्य कार्यों में भी प्रयुक्त होता था । उसके आठ गुण प्रसिद्ध थे—(१) विषधाती—विष का नाश करने वाला । (२) रसायन—योवन बनाए रखने में समर्थ । (३) मंयलार्थ—मांगलिक कार्यों में प्रयुक्त द्रव्य । (४) प्रविनीत—यथेष्ट प्रकार के आभूषणों में परिवर्तित होने वाला । (५) प्रदक्षिणाकर्त—तपने पर दीप होने वाला । (६) गुरु—सार वाला । (७) अदाह्य—अनि में न जलने वाला । (८) अकुरुक्तीय—कभी खराब न होने वाला ।

जो सोना कम, छेद, ताप और ताड़ना को सह लेता, वह विशुद्ध भाना जाता था ।^१ सोने पर चमक लाने के लिए गोपीचन्दन का प्रयोग किया जाता था । यह मिट्टी सौराष्ट्र में होती थी इसलिए उसे सौराष्ट्रिका कहा जाता था ।^२ कई भन्नाय छुपिम स्वर्ण भी तेयार करते थे । वह विशुद्ध सोने जैसा होता था परन्तु कम, छेद आदि सहन नहीं कर सकता था ।^३

१—(क) दशबैकालिक निर्युक्ति, मात्रा ३५१ ।

विसधाइ रसायन मंगलस्त्र विणिए पदाहिणावस्ते ।

गुण अड़म्बुक कुत्ते बटु सुबच्चो गुणा भणितो ॥

(क) हारिमझीय टीका, पत्र २६३ ।

२—दशबैकालिक निर्युक्ति, मात्रा ३५२ ।

चउकारणपरिसुद्धं कसछेमणतावतालक्ष्माए अ ।

जं तं विसधाइसायचाइमुफसंकुञ्जं होइ ॥

३—जिनदास चूर्णि, पृ० १७६ :

सोरटिया उवरिया, अमैर सुवच्चकारा उप्पे करेति तुक्ष्मस्त्र घिंडे ।

४—(क) दशबैकालिक निर्युक्ति, मात्रा ३५४ ।

(क) हारिमझीय टीका, पत्र २६३ ।

चौथा :

तीन वर्ष के बछड़े को 'गोरहण' कहा जाता था^१ तथा रथ की भाँति दौड़ने वाला बैल, जो रथ में जुन यथा वह बैल और पाण्डु-मधुरा आदि में होने वाले बछड़ों को योग्यता जात्य था^२। इसका वर्णन कल्होड़ भी किया याचा है^३। कल्होड़ देवी शब्द है। इसका अर्थ है बत्सतर—बछड़े से वाये की ओर संभोग में प्रवृत्त होने के पहुँचे की अवस्था।^४

हाथी, घोड़े, बैल, भेस आदि को जो आदि का भोजन दिया जाता था और कहीं-कहीं वे अलंकृत भी किए जाते थे^५। राजाओं के हाथी घोड़ों के लिए भोजन, अलंकार, आवास आदि की विवेक अवस्था होती थी।^६

पश्चली (?) वेष में बच्चे घोड़े मिलते थे।

महामह (?) और दीलवालिया (?) इन दो जातियों के संबोध से लवर संवा होते थे। घोटग अव की एक जाति थी। यह आजंव जाति के घोड़ों से उत्पन्न मानी जाती थी।^७

मछुकियों को अडिया से पकड़ा जाता था। उसकी नोक पर तीक्ष्ण लोह की कील

१—तृष्णकृतांग, १।४।२।१३ :

'गोरहण' विहायम् बलिर्वर्दम् ।

२—अगस्त्य चूर्णि :

गो जोना रहा गोरह जोनात्मेष गच्छन्ति गोरहणा पञ्चु-मधुरादीसु किसोर सरिसा गोपोतलामा ।

३—हारिमझीय दीका, पत्र २१७ :

गोरहकाः कल्होडा ।

४—वैश्वामिकामाला २।३, पृ० ५९ :

कल्होडो बच्छयरे—कल्होडो बत्सतर ।

५—विनवास चूर्णि, पृ० ३११ ।

६—हारिमझीय दीका, पत्र २४८ ।

७—विनवास चूर्णि, पृ० २१२-२१३ :

अलंकृत वाय अलंकृता ते चरसलिवितवादितु भवन्ति, अलंकृते नाम ते विकातिवाया जहा महामहृष्ट दीलवालिवार, ते तुम अलंकृतिवाया ते घोड़णा भवन्ति ।

लगी हुई होती थी और उसपर मांस का टुकड़ा रखा जाता था। जब मत्स्य मांस को खाने आता तब उसका गला तीव्रण लोहे की नोक में फँस जाता।^१

अमण :

कई प्रकार के साधु तंत्र, मंत्र और चिकित्सा आदि के द्वारा दूसरो का हित सम्पादन कर अपनी आजीविका चलाते थे।^२

व्यक्ति :

दशवैकास्तिक में निम्न व्यक्तियों के नाम मिलते हैं। (१) उप्रसेन—भोजकुल का एक राजा। (२) समुद्रगुप्त—अन्धकरूण कुल का एक राजा। (३) रथनेमि। (४) राजीमती। (५) भट्रिकाचार्य (प्रा० भट्रियायरिपु)।^३ (६) दत्तिलाचार्य (प्रा० दत्तिलायरिया)। (७) गोविन्द वाचक—ये बोढ़ थे। ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन्होने प्रवज्या ग्रहण की। आगे चलकर वे महावादी हुए।^४

सिक्का :

पूणी (रुई की पहल) कौड़ी आदि भी सिक्के के रूप में प्रचलित थे।

*

१—जिनदास चूर्णि पृ० ३४१।

२—दशवैकास्तिक, पा० ५०।

३—संभव है इन दोनों व्याचार्यों की दशवैकास्तिक पर कोई व्याख्यान हो।

देखो—जिनदास चूर्णि, पृ० ४।

४—प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० २०४।

परिशिष्ट-१

चूणि की परिभाषाएँ

(इस संकलन में मुख्यतः बगस्त्यासिंह स्थविर की चूणि और यत्र-तत्र जिनदास महत्तर की चूणि का उपयोग किया गया है) ।

अध्ययन-१

नोक	शब्द	अर्थ
३	एमेते	एवं सहो तहा सदस्स अत्ये…… वकारलोपो सिलोग पायाणुलोमेण ।
”	समणा	अणियत-वित्तितणेण समणो तवस्तिस्तो श्रमुतपसीति ।
”	विहंगमा	विहमागासं विहायसा गच्छतिति विहंगमा ।
५	अणिस्तिशा	अणभिसंचितदायारो ।

अध्ययन-२

१	कामे	इट्टा सद्वरसरूवगांबफासा कंता विसतिणा मिति कामा ।
२	वत्प	स्वोमदुगुलादीणि ।
”	गंध	कुंकुमागहचन्दणादत्तो ।
”	बलंकारं	केसवत्थाभरणादि ।
”	बौल्हंदा	अकामगा ।
३	भोए	इदिव विसया ।
”	साहीणे	अन्याहीणे ।
४	सिया	सिया सहो आसंकावादी, जदि अत्ये जहृति ।
५	जलियं	न मुम्मुर भूतं ।

नेत्रोक	वाच	अर्थ
६	दुरासर्यं	डाहकतणेण दुक्षं समस्तिष्ठति तं दुरासर्यं ।
,,	अगांघणे	उत्तमसप्या—ते डंकातो विसं न पिवन्ति मरंता वि । किंच सुलसागङ्क्षयसवा कुलमाणसमुण्डा भुयंगमा णाहारोसवस विष्पमुक्तं ण पिवेति विसं विसाय वज्जितसीला ।
८	भोयरायस्स	भोमो इति हरिवंसो चेव गोत्त विसेसं । तेऽसि भोयाण राया-भोयराया ।
९	जइ	जदि सहो अणब्मुक्तगमे ।
,,	भावं	भावो-अभिसंगो ।
,,	हडो	जलरुहो वणस्तस्ति विसेसो, अणाबद्मूलो हडो ।

अध्ययन-३

१	विष्पमुक्काण	अङ्गिमतर बाहिरगंथबंधन विविष्पगार मुक्काणं विष्पमुक्काणं ।
,,	अणाहणं	अकर्यं ।
,,	महेसिणं	महेसिणं ति इसी—रिसी, महरिसी—परमरिसिणी संबजक्ति, अहूरा महानिति मोक्षो तं एसंति महेसिणो ।
२	नियार्ग	प्रतिजियतं जं निङ्गंधकरणं, ण तु जं आहासमावतोए दिगे-दिणे भिक्षा गहणं ।
,,	अभिहडाणि	अभिहडं जं अभिमुहाणीतं, उक्स्सए आगेलणदिणं ।
,,	गंघ	गंघा कोट्ठे पुढादतो ।
,,	मस्ले	मल्लं गंधिम-पूरिम-संघातिमं ।
३	हस्तिही	संग्णिहाणं ।
,,	गिहिमते	गिहिभायणं कंसपत्तादि ।

स्लोक	वाच	वर्ण
३	रायपिंडे किमिच्छए मुद्राभिसित्तस्स रणो भिक्षा रायपिंडे । रायपिंडे किमिच्छए—राया जो जं इच्छति तस्स तं देति—एस रायपिण्डकिमिच्छतो ।	
"	संबाहणा	संबाहणा अट्टु-सुहा, मंस-सुहा, तय-सुहा, रोम-सुहा ।
"	दंतपहोयणा	दंतपहोवणं दंताण दंत कट्टोदकादीर्हं पक्षालणं ।
"	संपुच्छणा	संपुच्छणं—(१)-जे अंगा अवयवा सयं न पेच्छति अच्छ-सिर-पिट्ठुमादि ते परं पुच्छति—सोभति वा ण व त्ति' (२)-अहवा गिहीण सावज्ञारंभाकता पुच्छति…… ।
"	देहपलोयणा	अंगमंगाहं पलोएति 'सोभति ण वेति' ।
४	अट्टावए	अट्टावयं जूयप्पगारो । रायारहं णयजुतं गिहत्वार्ण वा अट्टावयं देति । केरिसो कालोत्ति पुच्छतो भणति ण याणामि, आगमेस्स पुण सुणकावि सालिकूरं ण भूंजति ।
"	णालिए	जूयविसेसो, जृथ मा इच्छतं पाडेहितिति णालियाए पासका दिज्जंति…… ।
"	तेगिच्छं	रोगपदिककम्मं ।
५	सेज्जायरपिंड	सेज्जा वसती, स पुण सेज्जा दाणेण सुंसारं तरति सेज्जातरो तस्स भिक्षा सेज्जातरपिंडो ।
"	बासंदी	उपविसणं ।
"	पलिष्पंकए	सयणिउञ्जं ।
"	गिहंतरणिसेज्जा	गिहंतरं पडिस्सपातो बाहिं जं गिहं । गेण्हतीति-गिहं । गिहं झंतरै च गिहंतरं, गिहंतर निसेज्जा जं उवकिट्टी अच्छति ।

नोक	शब्द	अर्थ
५	गायसुव्वट्टाणि	गातं सरीरं तस्तु उव्वट्टर्ण—अङ्गेनुव्वलणाहिंग जाहींह ।
६	गिहिणो वेयावडियं	गिहीणं वेयावडितं जं तेर्सि उवकारे वट्टति ।
,,	आजीववित्तिया	सा पञ्चविहा जाति कुलगणकम्मेसिष्ये आजीवणाओ ।
,,	तत्तानिव्वुडभोइत्तं	तातोव अगणि परिणतं तं तत्त-अपरिनिव्वुडं अहवा तत्तं पाणी तं पुणो सीतली भूतं आउकाय परिणामं जाति तं अपरिणयं अणिव्वुडं गिम्हे अहोरत्तेण सच्चित्ती भवति, हेमन्ते-वासासु पुव्वण्हे कर्तं अवरण्हे । अहवा तत्त भवि तिन्निवारे अणिव्वतं अणिव्वुडं तं जो अपरिणतं भुञ्जति सो तत्त-अनिव्वुडभोजी ।
,,	आउरेस्सरणाणि	(१) छुहादीहं परीसहेहं आउरेणं सीतोदकादि पुव्वभुत्तसरणं । (२) सत्तूहं वा अभिभूतस्स सरणं भवति……… । (३) अहवा सरणं आरोग्यमाला तत्य पवेसो गिलाणस्स……… ।
७	मूलए	ताळजाति ।
,,	सिंगबेरे	अल्लां ।
,,	कंदे	कंदा चमकादतो ।
,,	मूले	मिसादतो ।
,,	फले	बंबादतो ।
,,	बीए	बीओ घण विसेसो ।
८	सोबच्चले	उत्तरावहे पञ्चतस्स लवणखाणीसु संभवति ।
,,	सेंच्चबे	सेंच्चबलोपञ्चतो संभवति ।
,,	टोम्प	स्प्लाए भवति ।
,,	लोणे	सांभरोलोर्ण ।

नोंक	वाक्	वर्ण
८	सामुद्रे	समुहपाणीयं रिगेकेद्वारादिकतमावट्ठंतं कवणं भवति ।
"	पंखुकारे	पंखुकारो उसो कम्बुजंतो अद्वृष्टं भवति ।
"	कालालोगे	तस्सेव सैवधपव्यत्तस्स अंतरंतरेसु (कालालोग) स्थाणीमु संभवति ।
९	धूमणेति	धूमं पिबति 'मा सिररोगातिषो भविस्सुंति' आरोग पठिककम्म, अहवा 'धूमणेति' धूमपाणसलागा, धूबेति वा अप्याणं वत्थाणि वा……… ।
"	वत्थीकम्म	वत्थीणिरोहादि दाणत्यं चम्मयो णालियाउत्तो कीरति तेण चम्मं अपाणाणं सिणेहादि दाणं वत्थीकम्म…… ।
"	विरेयणे	कसायादीहि सोघणं ।
"	अंजणे	नयण विभूता ।
"	दंतवणे	दसणाणं विभूता ।
"	गायङ्गमंग	सरीरकमंगणमहाणाईणि ।
"	विभूतणे	अलंकरणं ।
१०	लहूभूयक्षिहारिणं	लहु जं ण गुह स पुण वायुः, लहूभूतो—लहूसरिसो विहारो जैसि ते लहूभूत-विहारिण्यो तहा अपहित गायिणो ।
११	पंचासवपरिण्णाया	पंच आसवा पाणातिवातादीणि पंच आसव-दाराणि…परिण्णा दुष्क्षिहा—जाणणापरिण्णा पञ्च-क्षाणपरिण्णा य । जे जाणणापरिण्णाए जाइउण पञ्चक्षाण-परिण्णाए छिला ते पंचासवपरिण्णाया ।
"	उज्जुद्दसिणो	उज्जु—संज्ञो समया वा, उज्जू—संगाहोसपल्ल-विरहिता अविग्रहती वा, उज्जू—मोक्षमगो तं पुस्तं-तीति इज्जुद्दसिणो, एवं अस्ते भगवतो गच्छ-विरहिता उज्जुद्दसिणो ।

संख्या	वर्णन	अर्थ
१२	मुसमाहिता	नाणदेसण चरित्तेषु सुट्टुं आहितामुसमाहिता ।
१३	मुषमोहा	मुयमोहा विकिळणमोहा मोहो मोहणीयमण्णार्ण वा…… ।
१५	सिद्धिमण्ण	सिद्धिमण्ण—दरिसण-नाण-चरित्तमत्तं ।
"	परिणिव्युता	परिणिव्युता-समंता णिव्युता सब्बप्यकारोचाति-मवधारणकम्म परिकल्पते ।

अध्ययन-४

संख्या	वर्णन	अर्थ
१	आउसं	सीसस्त आह्वानो, आयुष्मद् ग्रहणेन जातिकुलाद-तोषि गुणाऽविकृता भवति—आयुष्महाणा गुण वतो आयुष्मन् ।
"	भगवद्या	भगो अस्त अत्यं सो भगवान् । 'अत्यजस्तसलच्छ-घम्पप्ययत्विभवाण छण्ह एतेसि भग इति णामं—ते अस्त संति सो मण्णति भगवं…… ।
"	कासवेण	कासं—उच्छू । तस्स विकारो कास्यः रसः । सो अस्त पाणं सो कासवो—उसमसामी । तस्स जे गोत्तजाला ते कासवा । तेण बद्धमाणसामी कासवो……तेण कासवेण ।
"	पवेह्या	साधुवेदिता, साधुविष्णाता ।
"	सुपण्णता	जहावुद्दि सीसाणं प्रज्ञापिता ।
"	सेयं	अतिसवेण पसंसणीयं ।
"	अजम्याणं	अवीयते तद् इति अजम्याणं ।
"	बम्मपण्णती	बम्मोपण्णविजाए जाए सो बम्मपण्णती, अजम्याण विसेसो ।

सूच	वाच	वर्ण
३	पुढिकाइवा	पुढी-भूमि कातो जेर्सि ते पुढिकाया—एत्य काव सहो सरीराभिवाणो अहवा पुढी एव कातो पुढी- कातो—एत्यकायसहो समृहवाची ।
४	चित्तमंतं	चित्त—चेतणा बुद्धि । तं जीवतत्त्वमेव । सा चित्त- बती सजीवा इति ।
"	अण्णत्य	अण्णत्यसहो परिक्षणे बटृति ।
८	समुच्छ्वाम	पउभिणिमादि उदगपुढवि सिणेह समुच्छ्वामा समुच्छ्वामा ।
"	सबीया	सबीया इति बीयावसाणा दसवणस्सति भेदा संग- हतो दरिसिता ।
९	पाणा	जीवा, प्राणंति वा निश्वसंति वा ।
"	अंडजा	अंडजाता अंडजा मयूरादयः ।
"	पोतजा	पोतमिव सूयते पोतजा बल्गुलीमादयः ।
"	जराउजा	जराओ बेदिता जायंति जराउजा गवादयः ।
"	रसजा	रसासे भवंति रसजा तक्कादौ सुहम सरीर ।
"	उच्चिभया	भूमि भिदिउण निद्वावंति सलभादयो ।
"	परमाहम्मिया	परमं—पहाण तं च सुहं । अपरमं—ऊण तं पुण दुखं । घम्मो—समावो । परमो घम्मो जेर्सि ते परमधम्मिता । यदुरुक्तं—सुखस्त्वमावा ।
१०	दंडे	दंडो सरीरादि णिग्गहो ।
११	मते	हे कल्लाण सुखभागिन् भगवन् एव मते ।
"	वेरमण	नियत्तण ।
१३	अदिण्णादाण	अणपुण्णादस्स गहणा दिणादाण ।
१५	भिसी	णहीं पञ्चतादि तहो ततो वा चं अवदृश्यत ।
"	सिलं	सवित्थारो पाहण विसेसो ।
"	लेलुं	मट्टिया-पिंडो ।

क्रम	वाच	वर्त
१६	संसरक्षण	सरक्षो—पेतु । तैन अरम्ण यतुजा सहगत— संसरक्षण ॥
"	किल्लेण	बद्धविद्वत्तर्ग कटु ।
"	अंगुलियाए	हत्येगवेसो ।
"	सलागाए	कटुमेवद्विद्वत्तर्ग ।
१६	उदां	जदी तलागादि संसितपाणीय मुदर्ग ।
"	ओर्स	संरयादौ णिसि मेष्वसंभवो सिणेह विसेसो तोस्सा ।
"	हिमं	अतिसीताकत्थभित मुदगमेव हिमं ।
"	महियं	पातो सिसिरे दिसामंधकारकारिणी महिया ।
"	करां	वरिसोदर्ग कडणीभूतं करगो ।
"	हरतणुंगं	किञ्चि सिणिद्वं भूमि भेतूण कर्हिंचि समस्सयति सफुसितो सिणेह-विसेसो हरतणुतो ।
"	मुद्रोदर्गं	अंतरिक्षपाणि तं ।
२०	इंगालं	खदिरादीण णिहुआम धूम विरहिती इंगालो ।
"	मुम्मुरं	करिसगादीण किञ्चि सिट्टो अग्नी मुम्मुरो ।
"	अच्चि	दीवसिहा, सिहुरादि अच्ची ।
"	उज्जालेऽज्जा	वीयणगादीर्ह आलाकरणं उज्जालणं ।
२१	तालियटेण	मुम्लेवजाती ।
"	पत्तेण	पञ्चभिणिपण्णमादिपत ।
"	पिहुणेण	पेहुण मोरंगं तेसि कलाबो ।
२२	स्फेसु	उठिमज्जर्त ।
"	जाएसु	आबद्धमूर्ल ।
२३	पीढगंसि	उडुयं अत्थ चिहुति तं ठाणं पीडगं ठाणमतं वा ।
"	फल्लांसि	अत्थ सुप्पति चंपापट्टादि पेढणं वा ।
"	सेज्जंसि	सर्वगिका ।
"	संथारगंसि	अहुआइज्जं हृत्या ततो सचतुरंगुलं हृत्य विच्छिण्णो ।

संख्या	शब्द	अर्थ
१	पाणभूयाहं	पाणा तसा, भूता थावरा अहवा फुळम्बासनिसासा पाणा, सेसा भूता ।
"	अश्वाणी	जीवाजीव विन्नाण विरहितो व्रणाणी ।
"	कि	कि सद्गु लेद वाची । *
११	कल्लाणं	कल्लं आरोग्यं, कल्लाणं संसारातो विपोक्षणं ।
१४	जीवे	जीवंतीति जीवा, आउप्याणा घरेंति ।
"	गङ्ग	नरकादि अहवा गतिः-प्राप्तिः ।
१५	पुण्णं	जीवाणं आउबलविभवसुखाति सूतिं पुण्णं ।
१८	मुडे	इंदिय-विसय—केसावण्यणेण मुडे ।
१९	संवरं	पाणातिवातादीण आसवाण निवारणं ।
"	अणुत्तरं	कुत्तित्यस धर्मेऽहं पहाणो ।
२०	सव्वत्तगं नाणं	सव्वत्य गच्छतीति सव्वत्तगं—केवलनाणं केवल-दर्शणं च…… ।
२३	सेलेसि	सीलस्स ईसति वसयति सेलेसी ।
२६	सुहसायगस्स-	सुखं स्वादयति चक्षति तस्स ।
"	सायाउलगास्स	सुहेण आउलस्स, आउलो अणेकग्गो सुहं क्याति—अणुसीलेति, साताकुलो पुण सदा तदभिज्ञाणो ।
"	निकामसाहस्स	सुयछिणे मरए सुहतुं सीलमस्स निकामसायी ।
"	उच्छ्वोलणापहोइस्स प्रभूतेण	उज्यणाए घोवेति ।

अध्ययन-५ (उद्देशक-१)

संख्या	शब्द	अर्थ
४	खाणुं	जाति उच्चो उद्धट्टिओ दाश विसेसो ।
"	विज्जलं	{ विगयं मात्रं जतो जलं तं विज्जलं (चिक्खले) । उदगच्छविखल्लयं ।

[जि०]

नोक	मर्यादा	वर्ण
१	संकमेण	कत्तिम संकमो ।
८	तिरच्छसंपाइमेसु	पतंगादतो तसा ।
६	वेस	पविसंति तं विसयत्पिणोति वेसा, पवित्रिति वा जणमेगेसु वेसो स पुण णीयहृषी समवातो ।
११	बंभचेरवसाणुए	बंभचेरं मेहूणवज्ज्ञणं व्रतं तस्स वसमणुगच्छति बंभचेरवसाणुओ साधु ।
१२	विसोत्तिया	विसोतसा प्रवृत्तिः ।
१०	अणायणे	आयतणं ठाणं आल्यो, ण आयतण—अणायतणं अस्थानं ।
१३	संसग्गीए	संपक्को ।
१२	संडिल्मं	दिल्भाणि चेडस्वाणि । णाणाविहैंह खेलणएहं खेलताणं तेसि समागमो संडिल्मं ।
१५	आलोयं	गवक्षणगो ।
"	थिगलं	चोपलपादी । [जि०]
"	दारं	जं घरस्स दारं पुञ्चामसी तं पछिपूरियं । [जि०]
"	संवि	निगमपवेसमूह ।
"	दगमवणाणि	यमलधरणमंतरं ।
१६	रहस्सारकिलय	खर्तं पढिङ्गियं । [जि०]
१७	पछिकुट्ट	पाणियकं मंतं पाणियमंचिका एहाणमंडवादि ।
"	मामगं	रायंतेपुरवरामात्यादयो ।
"	अचियत	तिवितं, तं दुविहं इतरियं आवगहियं इतरियं— मयग सूतगादि आवगयिंह चंडालादि ।
"		मा मम घरं पविसंतु ति मामगं । सो पुण पंतपाए इस्सालुयत्ताए वा ।
"		अणिट्टो पवेसो अस्स सो, अहवा ण चागो झर्य पवत्तइ तं दाणपरिहीण केवलं परिस्समकारी ।

स्रोत	वाच	अर्थ
१७	क्षियत्तं	हुँ निगमणपवेसं, वागसंपण्णं वा ।
१८	साणी	बक्कपडी
"	पावार	कप्यासितो पडो सरोमो पावरितो ।
२०	णीयदुवारं	णीयं दुवारं जस्स सो णीयदुवारा त पुण फलिहर्यं वा कोटुतो वा जबो मिक्खा नोणिज्जति ।
२२	एलां	बक्करओ ।
"	बच्छगं	गोमहिसतणओ ।
२४	अहभूमि	भिक्खायरभूमि अतिकमणं ।
३३	ससिणिद्वं	जं उदगोण किञ्चि शिद्वं ण पुण गलति ।
"	ससरखले	पंसुरउगुङ्डित ।
"	लोणे	सामुदादि ।
३४	गेरु	सुवण्णगेरुतादि ।
"	बधिणय	पीतमट्टिया ।
"	सेडिय	महसेडाति ।
"	सोरट्टिय	तुवरिया सुवण्णस्स ओप्पकरणमट्टिया ।
"	पिटु	आमपिटूं आमओ लोट्टो । सो अर्मिघणो पोहसिए परिणमति, बहुदंघणो आरतो परिणमइ ।
"	उक्कटुं	छरो सुरालोट्टो, तिल-गोधूम-जवपिटुं वा, अंबिलिया पीलुपण्णियातीणि वा ।
"		दोद्धिय कालिगादीणि उक्कले छुब्बमंति । [जि०]
४७	कालमामिणी	फ्लूटिकालमासे ।
		नवमे मासे यन्मस्स बटुमाणस्स (जिणकप्पिया पुण जहिवसमेव भ्रष्टनसत्ता भवति तमो दिवसाओ आरद्दं परिहरंति) । [जि०]
४५	दगबारएण	दगबारओपाणियघड्लगो ।
"	पीसाए	पीसणी ।

संख्या	वाचन	मर्व
४५	पीढण	कट्टातिमयं ।
"	लोटेण	गीसायुत ।
"	लेवेण	मट्टियादि ।
"	सिलेसेण	जउखउरादि ।
४७	दाणद्वा	कोति ईसरो पवासागतो साधु सद्देण सब्बस्स आगतस्स सक्कारणिमित्तं दाणं देति……रायाणो वा मरहट्टुगा दाणकाले अविसेसेण देति ।
४८	पुण्ड्रा	पब्बणीमु पुण्मुहिस्सकीरतितं पुण्ड्रप्पगडं ।
५९	उर्त्तिग	कीहियाणगरं ।
"	पणगोमु	उर्ली ।
६६	गभोरं	अप्पगासं तमः ।
"	भुसिरं	अंतोमुण्णयं तं जंतुआलओ भवति । [जि०]
६७	निस्सेणि	मालादीण आरोहण-कट्ठ ।
"	फलगं	बहुलं कट्टमेव ।
		महर्लं सुबण्णयं भवह । [जि०]
"	पीढं	प्हाणादि उपयोग्यं ।
"	मंचं	सयणीयं, चण्णमंचिगा वा ।
"	कीलं	भूमिसमाकोट्टितं कट्ठं ।
		कीलो उडुं व खाणु । [जि०]
"	पासायं	स-मालको घर विसेसो ।
		निज्जृह गवक्षोब्दोमितो । [जि० चू० १३।११]
७०	कंदं	चमकादि ।
"	मूलं	पिसादि ।
"	पलंबं	फर्लं ।
"	सन्निरं	सागं ।
"	तुंबागं	जं त्वयाए पिलागं अग्निलागं अस्तो त्वक्मागम् ।

स्लोक	संख्या	वर्णना
७०	सिंगबेर	अहुर्गं ।
७१	सतु	जवातिव्युणा जवातिव्यानाक्षिरो ।
"	चुण्णाइ	मिट्टविसेता ।
"	कोल चुण्णाइ	कोलो-बदरो, तेसि चुण्णाणि, क्यथि कम्प्याण ।
"	सक्कुलि	तिलप्पडिया ।
"	फाणियं	छुटु गुलो ।
"	पूयं	तवगसिद्धो ।
७५	वार-घोयणं	वालो वारगो रलयोरेक्त्वमिति कृत्वा लकारो भवति । वालः तेण वार एव वालः तस्य घोवर्णा फाणितातीर्हि लित्तस्य वालादिस्सं जं मि किञ्चि सागादि संसेदेता सुतो सित्तादि कीरति ।
"	चाउलोदणं	चाउलघोयणं ।
८२	कोट्ठां	सुण्णण्डणं कोट्ठादि कोट्ठाओ ।
"	भित्तिमूलं	दट्ठमठो सुन्नन्नो ।
८६	सूइयं	दोणहं घरण मन्तरं ।
"	असूइयं	णिवंजणं ।
"	उस्लं	सुसूवियं ।
"	सुक्कं	मंदसूवियं ।
"	मंथुं	बदरामहित चुण्णं ।
"	कुम्मास	पुलगादि कुम्मासा ।

अच्युतन-५ (उद्देशक-२)

१	पहिंगहां	भस्तपडिगगह भायणं ।
२	सेज्जा	उवस्तस्ये ।
		उवस्ततादि महुकोट्ठादि ।

[जिं]

संख्या	वाच	मर्त्त
२	निसीहियाए	सजम्मायट्ठाण, जम्मि वा सक्षमूलादौ लेव निसीहिया ।
"	बयाबयट्ठा	याबदट्ठ—याबदमिप्रायं, न याबदट्ठ-अयाबदट्ठ ।
७	उच्चावया	णाणाविघजातिरुववयसंठाणादिभिः ।
६	करगलं	दुवारे तिरिच्छं खीलिका कोडियं कट्ठ, गिहादी कवाडनिरोषकट्ठ अगला ।
"	फलिहं	णगरदारकबाडोबत्यंभणं ।
१०	माहणं	माहणा बोयारा ।
"	किविणं	किवणा पिंडोलगा ।
१४	उप्पलं	णीलं ।
"	पउमं	णलिणं ।
"	कुमुवं	ग्रहमं ।
"	मगदंतियं	मेत्तिगा । अणो भणंति वियहस्तो ।
१८	सालुयं	उप्पलकंदो ।
"	मुणालियं	पउमाण मूला । गयदत्सन्निभा पउमिणि-कंदाबो विगच्छति ।
		[जिं०]
"	सासवणालियं	सिद्धत्यगणाला ।
१६	तणग	अगगगमूलं ।
२०	छिकाडि	संविलिया । संगा ।
		[जिं०]
"	आमिदं	असिच्छपक्का तं वा सति भज्जिता ।
२१	कोलं	पतर् ।
"	वेलुयं	वेलयं—विश्ले वंसकरिलं ।
"	कासवणालियं	सीक्कणीफलं, कस्सारकं ।

संख्या	वाच	अर्थ
२१	तिलप्पद्गं	ब्रामतिलेहि जो पद्गो करतो ।
"	नीमं	णीबफलं ।
२२	चाउलं पिट्ठं	चाउलं पिट्ठं लोट्ठो तं अभिनवमणिषणं सचितं भवति ।
"	विद्धं	उण्होदगं । सुद्धमुदयं ।
"	तत्त-निवृडं	सीतलं पडिसचित्तीभूतं अणुवत्तदंडं वा ।
"	तिलपिट्ठु	तिलउट्टो । तिलवट्ठो—जो अद्वाइहि तिलेहि जो कओ तत्प अभिष्णता तिला होज्ञा दरभिन्ना वा ।
"	पूइ पिन्नार्गं	सरिसवपिट्ठु । सिद्धत्थपिंडग ।
२३	कविट्ठं	कवित्थफलं ।
"	माउलिं	बीजपूरगं ।
"	मूलगं	समूलं पलासो ।
"	मूलगत्त्य	मूलगकंदगं च कत्तिया ।
		मूलकंदा ।
२४	फलमंथूणि	बदरादि चुण्णं ।
"	बीय-मंथूणि	बहुबीजाणि । जवमासमुग्गादीणि ।
"	बिहेलगं	उंबरादीणि, मूत्रस्खफलं—तस्समाणजातीतं हरिडगति वा ।
"	पियालं	पियालरुक्खफलं ।
२५	समुयार्ण	समुयाणीयति—समाहरिज्जंति तदत्थं चाउलसागतो रसादीणि तदुपसाधणाणि अणुमेव समुदार्ण वहवा पुञ्चमणितमुग्गाप्पणेसणासुद्धमण्णं ।

संख्या	संस्कृत	ग्रन्थ
२५	कुलं	वरं ।
"	उच्चावधं	अगेनविहं—हीणमज्जमाहिणमपङ्गुट्ठेति ।
"	ऊसदं	उस्सितं ।
"	नीयं	दुर्गुच्छियकुलाणि ।
२६	विति	सरीरघारणं [जि०]
"	मायन्ते	मात्रा-परिमाणं तं जाणातीति मातणो ।
२७	सयण	संथारणादि ।
"	आसण	पीढकादि ।
"	भत्त	ओयणादि ।
"	पाण	मुद्दियावाणामादि ।
३२	अत्तठःगुरुओ	अप्यणीयो अट्ठो अत्तटो । सो अस्स गुरुओ, सो अत्तटुगुरुओ ।
३३	बिरसं	णिल्लोणाति ।
३४	आययट्टी	आगामीणी काले हितं आयतीहितं । आयतिहितेण अत्यधी आयत्यो अभिलासी । आयतो—मोक्षो । आययं अत्यपतीति आययट्टी ।
		[जि०]
"	मुणी	जती, भट्टाराओ ।
"	सुतोसओ	किंचि लभित्तणं अलभित्तणं वा तुस्सति ।
३५	माण	अभुट्टाणादीहि गव्यकरणं ।
"	सम्माण	वृथातीहि एगदेसेण वा माणो सव्यगतो परिसंगो सम्माणो ।
"	मायासस्तं	सल्लमाउव देहलग्नं...मायैव तस्स सल्लं भवति ।
३६	सुरं	पिट्टकम्म समाहारो ।
"	मेरां	पस्णा विसेसो । पस्त्नो सुरापायोग्नेहि दव्येहि कीरह । [जि०]

स्तोक	शब्द	वर्ण
३६	ससक्षं न पिवे	सक्षी भूतेण अप्यणा—सचेतण इति । अहवा जवा गिलाणकउजे तता 'ससक्षो' ण पिवे जणसक्षिगमित्यर्थः ।
३८	सुंडिया	सुरादिसु संगो । जा सुरातिसु गेही सा सुंडिया भण्णति ।
"	माया	णिगूँ धायवं, सठता ।
"	मोस	पुच्छयस्स अवलाको, अलीयं ।
३६	संवरं	पञ्चकखाणं ।
४१	गुणाणं	सीलव्ययादयो ।
४६	देवकिन्बिसं	देव सदेण कस्साऽव तत्य विस्सवुडि भवेजा अतो किन्बिसिया देव दुगुच्छणत्यमिदं भण्णति ।
४८	एलमूयय	एलओ द्व वोवडमासी ।
५०	तिव्वलज्ज	तिव्वयत्यर्थः, लज्जा-संयम एव जस्स स भवति तिव्वलज्जो ।

अध्ययन-६

१	गणि	गणो समुदायो संघो जस्त्स अत्यीति गणो ।
२	रायाणो	बढमुकुटा ।
"	रायमच्चा	अमज्ज, सेणावतिपभितयो ।
"	माहणा	बंभणा ।
		घोयारा लेसि उप्पसी अहा सामाइयनिज्जुतीए ।
१५	दुरहिट्टियं	[जि०] दुरुंडियाविट्टितं, दुरुलं वा पञ्चाटित्तेण अविट्टिति ।
"	भेषायण	भेद्रो-विणासो, आययण-मूलं ।
१७	विडं	पागजात ।

स्लोक	पाठ	वर्ण
१७	उम्भेष्म	सामुद्राति ।
"	लोण	आगरेसु समुपञ्चति ।
"	तेलं	तिलाति विकारा ।
"	फाणिं	उच्छृष्टिकारो ।
"	सन्निहिं	सण्णिधानं ।
२२	अणुकासो	अणुसरण मणुगमो अणुकासो ।
"	लज्जासमा विती	संजमाणुविरोहेण विति ।
"	एगभत्तं	एगबारं भोयणं, एगस्स वा रागद्वैसरहियस्स भोयणं
२४	उदउल्लं	बिदुसहितं ।
३२	जायतेयं	जात एव जम्मकाले एव तेजस्वी ण जहा आदिशो उदये सोमो मज्जमण्डे तिव्यो ।
"	पावर्गं	हृव्यं । सुराण पावयतीति पावकः—एवं लोइया मण्डति । वयं पुण अविसेसेण छहण इति पावकः ।
४७	पिङं	असणादि ।
"	सेज्जं	आवसहो ।
"	वत्थं	रजोहरणादि ।
५०	कुङ्ड	संधिय कसभायण मेव महतं ।
५३	आसंदी	आसणं ।
"	मंचं	मंचको ।
"	आसालएसु	सावट्ठंभमासणं ।
५६	णिसेज्जा	णिसीयणं ।
६१	घसासु	गसति सुहुमसरीर जीविसेसा इति घसी, अतो सुण्णो भूमिपदेसो पुराण भूसातिराचि चा ।
"	भिलुगासु	कण्हभूमिदलो भिलुहा ।
६३	सिणाणं	सामायिं उकण्हाणं ।
"	कक्कं	गंघटुओ कक्कं ।

नंबर	शब्द	मर्ग
६३	लोढं	कसायादि ।
"	पठमगाणि	केसर ।
६५	विभूषा	विभूषणं, अलंकरणं ।
		ज्ञाणुव्यलण उजालवेसादि । [जि०]

अध्ययन-७

११	फरसा	लुक्खा,। नेहविरहिता ।
१३	आयार	बयण-नियमण मायारो ।
१४	होले	निट्ठुर मामंतणं, देसीए म (र)विल बदणमिव ।
"	बसुले	सुदृपरिमव बयणं ।
"	दमए	मोयण-नियमित घरे-घरे द्रमति गच्छतीति दमओ रंकः ।
"	दुहए	दुभगो—अपिट्ठो ।
१५	अज्जिए	पितामही वा मातामही ।
"	पज्जिए	पितामही मातामही माता ।
१६	हूले, अणो	मखट्ठेसु तरणित्यो मामंतणं ।
"	हूले	लाडेसु ।
"	भट्टे	अडम-रहित बयणं ।
"	सामिणि	पायो लाडेसु ।
"	गोमिणि	सब्ब देसेसु ।
"	होले, गोले, बसुले	गोल्लविसये, देसीए लालगत्वाणीयाणि प्रियवयणा-मंतणाणि … … ।
२२	पमेहले	प्रगाढमेदो, अस्त्यूलोवि सुक्कमेदमरितो ।
२७	णावाणि	अणेगकट्ठुसंधातकमुदकजाणि ।
"	दोणिणि	एण कट्ठं उदगजाण मेव जेण वा अरहट्टुदीण उदकं संचरति…… ।
२८	पीडए	पट्ट ज्ञाण पायपीडादि, उबदिसचगं-पीडग ।

नंदोक	शब्द	वर्ण
२८	चंगबेरे	चंगेरिगासंठित ।
"	महयं	बीयसारणत्यं समं कटुं ।
"	जंतलट्टी	जंतोपीडणं ।
"	गंडिया	बम्मारादीण दीहं चउरस्तं कटुगं ।
२६	उवस्तए	सावुणिलयणं ।
३४	ओसहीओ	फलपाकपज्जत्ताओ सालिमादिओ ।
३५	पिरा	जोगादिउपधातातीओ ।

अध्ययन-८

३	अच्छण	छणां छणः—क्षणु हिसायामिति एयस्त स्वं अकारस्य य छगारता, पाकते जघा अक्खीणी अच्छीणी अकारो पडिसेहो ण छणः अच्छणः— अहिसणमित्यर्थः ।
५	सुद्धपुढबोए	असत्योवहृता पुढ्की ।
६	सीतोदगं	तलागादिसु भोमं पाणितं ।
"	सिला	करगवरिसं ।
"	बुडं	तक्काल बरिसोदगं ।
"	हिमाणि	हिमवति सीतकाले भवति ।
१०	तण	सेढिकादि ।
"	उदगाम्मि	अणांसवणप्कर्हि ।
"	उर्त्तिग	सप्पच्छत्तादि ।
१७	पाय	लावुदास्मट्टियामर्यं ।
२१	गिहिजोगं	गिहिसंसर्गं गिहिवावारं वा ।
२२	निट्ठाणं	सब्बसंभारसंभियं सुपागं सुगंधं सुखसत्या णिट्ठंगतं भोयर्ण ।
"	रसचिज्जुर्दं	निगतरसं ।

[चि०]

[चि०]

[चि०]

नंबर	संख्या	अर्थ
२३	अयंपिरो	अजंपणसीलो ।
२४	जगणिस्तिए	ए एकं कुलं गामं वा णिस्तो जगपदमेव ।
२५	लूहवित्ति	लूहं संज्ञमो तस्य अणुवरोहेण वित्ति जस्त सो लूहवित्ति अहवा लूहदव्याणि चणगनिष्कावकोद्वा-दीणि वित्ति जस्त ।
"	आसुरत्तं	आसुरो कोहो तमावो आसुरत्तं ।
२६	कक्कसं	जो सीउष्णकोसादिकासो सो सरीरं किसं कुञ्जइसि कक्कसं ।
२७	महाफलं	मोक्खपज्जवसाणफलत्तेण महाफलं ।
२८	अत्यंगयमिम आइच्छे अत्थो णाम पव्यओ, तमि गतो आदिशो अत्यगओ, अहवा अचक्खुविसयपत्तो ।	[चिं ०]
२९	अर्तितिणे	तेवृश-विकटुडहणमिव लिणितिणं तितिणं ।
३२	अणायारं	अकरणीयं वत्थु ।
"	गूहे	पठिच्छायणं ।
३७	मित्ताणि	कुल्परंपरागताणि वि मित्ताणि ।
४०	राइणिएसु	पुञ्चदिविक्षता ।
"	घुवसीलयं	धूवं-सततं सीलं-अट्ठारस सहस्त्रं भेदं ।
४१	मिहो-कहाहिं	रहस्यकथाओ इत्थी संबद्धावो तहामूलाओवाताओ ।
५०	जोगं	ओसहसमवादो । अहवा निदेसणवसीकरणाणि ।
"	णिमित्तं	तीतादि ।
"	मंत	जासावर्णं ।
"	भेसजं	विरेचन ओसहं ।
"	भूयाहिगरणं	भूताणि—एगिदियाईणि तेसि संचृणपरिताळा-दीणि अहियं कोरति जंमि तं भूताविगरणं [चिं ०]
५६	विभूसा	अलंकरणं विभूसा ।

संख्या	वाच्मा	अर्थ
५६	पणीयरस भोयण	गेहलबणसंभारोतिप्रकरिसेण सरससं जीतं निष्ठ- पेसलं वर्णादिवक्येण । [जि०]
"	तालउडं	जेणतरेण ताला संपुढिजांति तेणतरेण मारयतीति तालउडं ।
५८	पोगलाण	खबरसगंधफरिससद्भमंतो वस्थो ।
"	सीईभूएण	उवसंत ।
६०	सदा	घम्मो आयारो ।
"	निक्संतो	घमं पुरतो काऊणं जं धरातो णिगतो ।
"	परियाष्टुणा	परियाओ—पवज्ञा, स एव मोक्षसाहृण भावेन ठाण—स्थानं ।

अध्ययन-६ (उहेसक-१)

१	थंमा	थंगणं, अभिमाणो, गव्हो ।
२	आसायण	निज्जरा आयस्त सातणं ।
४	जाइपहं	जातो—समुष्पत्ती, वधो—मरणं, अम्मरणाणि गच्छति अहवा जातिपदं—जातिमगं—संसारं ।
५	आसोविसो	आसीए विसं जस्त ।
१३	लज्जा	संकणं ।
"	दया	सत्ताणुकम्पा ।

अध्ययन-६ (उहेसक-२)

१६	दुर्गब्दो	गलिबलद्वो ।
२१	किकती	काजणासो ।
"	संपत्ती	काजलामो ।
२२	पिसुणे	पीति सुण्ण करोतिति फिसुणो ।

संख्या	वाच	अर्थ
२२	साहस	रभसेणाकिञ्चकारी ।
"	हीणपेसणे	पेसणं जघाकालं उपपादयितु मसत्तो हीणपेसणो ।
		अध्ययन-६ (उद्देशक-३)
१	आयरिय	सुत्तत्य तदुभयगुणादि संपर्णो अप्पणो गुरुर्हिं गुरुमदे ठावितो आयरियो ।
४	अण्णायउच्चं	देखो—चू-२५ ।
"	ज्वरणटृया	सरीरघारणत्वं ।
"	सम्याणं	समेच्च उबादीयते इति समुदार्णं ।
६	उच्छ्राहो	सामत्वं ।
१२	हीलए	पुष्टुच्चरितादि लज्जावणं हीलणं ।
"	खिसणं	अंबाडणाति फिलेसणं खिसणं ।
१५	रय	आश्रवकाले रयो ।
"	मल	बद्धपुट्ठणिकायियं कम्मं मलो ।
		अध्ययन-६ (उद्देशक-४)

संख्या	वाच	अर्थ
१	वेरा	गणघरा ।
४	केय	विदंति जेण अत्थविसेसे अम्मि वा भणिते विदंति सो वेदो तं पुण नाणमेव ।
५	सुबं	दुवालसंगं गणिपिडणं सुत्तणो तं मृतं ।
६	खेम	गिलातं ।
		अध्ययन-१०
१	निकलम्म	निगगच्छुडण गिहातो ।
		निकलम्म नाम गिहाओ गिहत्यभावाओ वा दुप दादीणि य चहलण । [चिठ०]
		निष्कलम्य सर्वसंगपरित्यागं कृत्वा अथवा निष्कलम्य— वादाय । [चिठ०]

संकेत	पाठ्य	वर्ण
१	आणाए	वश्यं संक्षेपोदा ।
"	मुद्रवयणे	दुवालसंगं गणिपिहां तम्मि ।
"	वसं	छंदो, विसवाणुरागो ।
"	वंतं	असंजमं ।
२	सीओदगं	अविग्रहतजीवं ।
३	हरियाणि	हरितवयणं सञ्च वणस्पति सूयगं ।
"	बीयाणि	बीजवयणं कंदादि सञ्च वणस्पति अवयव सूयगं ।
"	सचितं	सचित्तवयणं पत्तेयसाधारण वणस्पति गहणत्यं ।
५	नायपुत्त	णातकुलुप्पन्नस्स णातपुत्तस्सभगवतो वद्धमाण- सामिणो ।
"	फासे	आसेवर्णं ।
"	पंचासव	पंचासवदाराणि इंदियाणि ताणि आसवा चेव ।
६	अहणे	घनं चउप्पदादि तं जस्स नस्त्रि सो अहणो ।
"	जायरूवरयए	जं णो केणइ उधाएण उष्णाइयं तं जातरूवं भण्णइ, त च सुवण्णं, रथयग्गहणेण हृष्णगस्स गहणं क्यं ।
७	सम्पदिट्ठि	सम्भाव सद्दहणा लक्खणा समा दिट्ठि सा जस्स सो सम्पदिट्ठी ।
"	अमूढे	परतित्यविमवादीर्हि अमूढे ।
८	छंदिय	छंदो—इच्छा, इच्छाकारेण जेयणं छंदणं । एवं छंदिय ।
"	साहम्मिया	समाणवम्मिया (साहृणो) ।
१०	अविहेढए	परे विग्यहृविकथापसंगेमु समत्योवि ण तालणा- दिणा विहेढयति एवं सविहेढए ।
"	गार्मकंटए	इंदिय समवादो गामो तस्स कटंका इव कंटका बणिट्ठुविसया ।
११	अङ्कोस	मादिसगरादि अङ्कोसा ।

संक्षेप	राम	वर्ण
११	पहार	कसाति ताढणं पहारा ।
"	तज्जनाओ	विमुद्गितादि अंबाढणं तज्जना ।
"	भय	पङ्कवायो ।
"	भेरब	रौद्रं ।
"	सह	वेलाल्कालिवादीणां सहो ।
"	संपहासे	समेच्च पहसणं ।
१२	मसाणे	सब-सयणं मसाणे ।
१३	बोसटुचतदेहे	पडिमादिसु विनिवृत्त क्रियोणहाणुमदणाति विभूसा- विरहितो चतो सरीरं देहोबोसटु चतोपदेहो जेण सो बोसटुचतदेहो ।
"	अनियाणे	दिव्यादि विभवेतु अणिदुचिते अनियाणे ।
१५	अजमण्य	अप्याण मविकारभूण जं भवति तं अजमण्यं ।
१६	उबहिम्मि	वत्यपत्तादि ।
"	अग्रायउंछंपुल	उंछं चउच्चिहं……दव्वुच्छ तावसा दीणा उगमु- पायगेसणामुदं । अणायमण्णतेणसमुप्यादितं भावु- च्छमण्णा उंछं तं पुल्यति तमेसति एस अणाउंछं पुलाए ।
"	निष्पुलाए	पुलाए चउच्चिहे……दव्वपुलाओ पलंजो । मूल- तरणुणपडिसेवणाए निस्सारं संज्ञमं करेति एस माव पुलाए । जवा निष्पुलाए ।
"	क्यविकक्य	मुळस्स पडिमुल्लेण गहणं दाणं वा ।
"	संग	वत्य सज्जंति जीवा ।
१७	झुँ	वियुव्वणमादि ।
"	सक्कारण	पूयण विसेसो ।
२०	अज्जपर्य	रिजु भावं ।

नंमोक	वाच्य	वर्ण
२०	हस्सकुहए	हस्स निमित्तो वा कुहण् हस्सकुहर्षं जवा करेति जवा परस्सहस्रं मुप्पञ्जति ।
२१	अपुणागमं	सिद्धी, संसारदुक्ष्यविणिवित्ती ।

प्रथम चूलिका

सूत्र

१ स्थाऽ३ साह		कुडिलं ।
„ ६ बंतस्त		अस्त्रां अचम्भवहरिक्षणं मुहेण उग्गिलियं बंतं ।
„ ७ अहरगङ		अबोगती जट्यं पहतो कम्मादि पारगो खेणण सक्का वारेतुं सा अवरगती ।
„ ८ आयंके		सूलादिको आसुकारी सरीर-बाष्ठा विसेसो आयंको सारीरं दुक्लं ।
„ १० संकप्ये		माणसं दुक्लं ।
„ १३ सावज्जे		सह अवज्जेण सावज्जं, अकज्जं गरहित ।
„ १५ कुस		दब्भाजातीया तृण विसेसा ।
नंमोक		
५ सेट्ठि		रायकुल्लद्वासम्माणो समाविद्वेट्ठणो वणिगाम महत्तरो य सेट्ठो
„ कव्वडे		चाड चोवग कूडसक्षीसमुद्भावितदुव्ववहारारंभो कव्वडं अहवा कुणगरं जट्यं जल-यल समुद्भव विचित्रदं विणिओगो ।
६ मच्छो		जलचर-सत्त-विसेसो ।
„ संताओ		समट्ठितो ।
„ संताण		अबोच्छ्रिती ।
८ पंको		चिष्कलो ।
९ गणी		सूर्पिद अणुप्पत्तो ।

नंबर	संबद्ध	अर्थ
८	भावितप्पा	सम्मदंसणेण बहु-विहेहिय तत्त्वज्ञोर्गेहं अणिक्र आक्षि- भावणाहि य भावितप्पा ।
„	परियाए	तहा पञ्ज (य) परिणति अवधा प्रवज्या सहस्र अवक्षमंसो ।
११	अमर	मरणं मारी, ण जेर्सि मारो अत्य ते अमरा ।
१२	सिरीओ	लच्छी सोमा वा ।
„	हीलंति	ही लज्जा मुपण्यति हीलंति यदुक्तं होपयन्ति ।
„	दाढा	अगदंत-परियस्स दसण-विसेसो दाढा ।
१३	अकित्ती	जणमुखपरेणगुणसंसदणं कित्ति, होसकित्तणी अकित्ति ।
१४	अणभिजिम्यं	अभिलासो अभिज्ञा । सा तत्य समुप्पणा तं अभिजिम्यत, तव्यवरीयं अणभिजिम्यत ।
„	बोही	आरहंतस्त लद्दी बोही ।
१६	आयं	पुणविण्णाणादीण आगमे ।

द्वितीय चूलिका

१	चूलियं	अप्पा चूला चूलिया, सा पुण सिहा ।
२	अणुसोय	अणुसहो पञ्चाभावो सोयमिति पाणियस्तु णिण्णप्यदेसाभिसप्णणं ।
„	पडिसोय	इत्य पडिसोयं रागविण्यणं ।
„	होडकामेण	णिव्वाणशमणस्तहो ।
४	आयार	मूलगुणा ।
„	परक्कमेण	बलं, आयार-धारणे सामर्थ्यं ।
„	गुणा	चरिताचरितमेवभूतरगुण समुदायो गुणा ।
„	णियमा	पडिमाद्यो अभिग्नहृ विसेसा ।

क्रम	संबद्ध	वर्णन
३	अणिएयवासो	णिकेतं घरं तत्य ण वसितव्य मुज्जाणाति बासिणा होतव्यं, अणिएयवासो वा ज्ञातो ण णिज्जमेगत्य वसियव्यं किंतु विहृतिव्यं ।
५	समुदाणचरिया	मज्जादाए उगमित्तं तमेगी भावेन उवणीय मिति समुदाणं । तस्स विसुद्धसचरणं समुदाणचरिया ।
"	अण्णायउच्च	उच्छं द्वुविहं दब्बओ भाबओ य । दब्बओ ताबसाईण जं तो, पुञ्चपञ्चासंवधादीर्हं ण उप्पाइयमिति भाबओ, अन्नायं उच्छं । [जि०]
"	पहरिकक्या	पहरिककं विवित भण्णइ । दब्बे जं विजणं भावे राणाइविरहितं, सपक्षपरपक्षे माणवज्जियं वा, तब्मादो पहरिकक्याओ । [जि०]
"	उवही	उवधान ।
"	कलह	कोधाविटुस्स भंडणं कलहो ।
"	विहारचरिया	विहरण विहारो, विहारस्स आचरणं विहारचरिया ।
"	इसिण	गणाघरादयो ।
६	आइन्न	अच्चत्य पडिपूरियं रायकुलसंखडिमादि ।
"	ओमाण	ऊण—अवमं, माणं ओमाणं ।
"	ओसन्न	पायोवितीए वट्टइ ।
"	संसटु	सगुटुं ईसिहत्यमत्तादि । [जि०]
"	कप्पेण	विच्छी । [, ,]
"	तज्जाय	जात सहो सजातीय मेद प्रकार बाचको । [, ,]
७	अमज्ज	मदनीयं मदकादी वा मज्जं, न मज्जं अमज्जं ।
"	मंससि	प्राणीसरीरावयवो ।
"	अमच्छरीया	मच्छरो—कोषो न मच्छरो अमच्छरो ।
"	विगहं	विकृति विगर्ति वा गेतोति विगई ।
८	गामे	कुरुस्मवायो गामं ।

स्लोक	शब्द	वर्ण
"	कुले	एगाकुडुंबं कुलं ।
"	णगरे	महामणुस्स संपरिणगहो पंडित-समवायोणगरं ।
"	देसे	विसयस्स किंचि मंडलं देसो ।
६	गिहिणो वेयावडियं	गिहं-पुत्तदारं जस्स अत्थी सो गिही, गिहं-घरं जस्स अत्थ सो गिही । गिहीणो वेयावडियं नाम तत्वावात्करणं तेसीं प्रीतिजणणं उपकारं असंज्ञमा- णुमादेण ।
"	अभिवायणं	वयणेण णपोक्कारादि करणं अभिवायणं ।
"	अंसकिलिट्ठेहि	गिहिवेयावडियादि रागहोस विवाहियं—परिणामो संकिलिट्ठो तहा भूते परिहरितण असंकिलिट्ठेहि ।
१०	निउणं	संज्ञमावस्सकरणीय जोगेसु दक्षो ।
"	सहाय	सह एगात्थं पवत्तते इति सहायो ।
"	कामेसु	इत्थि-विसया ।
११	संबच्छरं	काल-परिमाणं । तं पुण णेह बारसमासिंगं संबज्ञक्ति कितु बरिसारत चातुमासितं ।
"	सुतस्स	अत्थ सूयणेण अत्थप्पसूतितो वा सुतं ।
१३	खलियं	पमावकं बुद्धि-खलियं । खलणं पुण विचलणं ।
"	पडिबंध	पडिबंधणं निदाणं वा ।
१४	घीरो	पंडितो तवकरणसूरो वा ।
"	आइन्नओ	गुणोहि जबविणियादीहि आपूरितो आइन्नो सो पुण अस्सजातिरेव वा आइणो कच्छकादि ।
"	खलीनं	वज्ज-लोह-समुदायो हृयवेगनिरूपणं खलिनं ।
१५	जिईदियस्स	विसय विणियत्तिर्येदियो जितेदियो ।
"	पडिबुद्धजीबी	ओण भवति पमाद सुतो सो पडिबुद्धो, पडिबुद्धस्स जीवितुं सीलो जस्स सो पडिबुद्धजीबी ।

१६. उत्तराध्ययन सूच (सन् १६२२,
प्र० उप्पसला विश्वविद्यालय)
१७. सनेत्स आँक भाण्डाटकर ओरिसण्टल रिसर्च
इन्स्टीट्यूट (जिल्ह : १७, सन् १६३६)
१८. अक्षक ग्रालिशास्य
१९. शृण्वयेद (सन् १६५७, प्र० स्वाध्याय-मण्डल, पारडी) सं० सातवलेकर
२०. स हिंस्ट्री आँक इंडियन लिटरेचर डॉ० मोरीस विन्टरनिट॒
(भा०२, सन् १६३६, प्र० कलकत्ता विश्वविद्यालय)
२१. स हिंस्ट्री आँक द केनौनिकल लिटरेचर ही० २० कापड़िया
आँक द जैन्स (प्र० ही० १० रु० संकड़ीसेरी, गोपीपुरा, सूरत)
२२. ओष्ठ निर्युक्ति (वि० सं० १६७५, श्रीमती वृत्ति महित, भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय)
प्र० आगमोदय समिति)
२३. अंगपर्णणसि चूलिका
- (प्र० माणिकचन्द्र दिग्म्बर जैन घन्थमाला)
२४. कथाय पाहुड (वि० सं० २००० से २०२२ भा० १-६, भगवद् गुणधराचार्य
प्र० भारतीय दिग्म्बर जैन संघ, चौरासी मथुरा)
२५. कोसिय जातक (खं० २, सन् १६४२, अनु० भिष्म आनन्द कौसल्यायन
(प्र० हिन्दी माहिल सम्मेलन, प्रयाग)
२६. गीता महापिं वेद व्यास
(प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर)
२७. गोम्मटसार (कर्म काण्ड) (सन् १६२७,
प्र० सेन्ट्रल जैन पञ्जशिंग हाउस,
अजिताभास, लखनऊ)
२८. गोम्मटसार (जीव काण्ड) „ „ „ „
२९. जय ध्वला (वि० सं० २००० से २०२२, ६ भाग,
प्र० भारतीय दिग्म्बर जैन संघ, मथुरा) सं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
३०. जिनदास चूर्णि (वि० सं० १६८४,
प्र० शेष देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार काण्ड, सूरत)
३१. जैन साहित्य और इतिहास (सन् १६४२,
प्र० हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई)
- सं० डॉ० सर्पेन्टियर
- डॉ० मोरीस विन्टरनिट॒
- ही० २० कापड़िया
- महापिं वेद व्यास
- नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती
अनु० सं० जे० एल० जैनी
- वीरसेनाचार्य
- जिनदास महत्तर
- नाध्राम प्रेमी

प्रस्तुत क्रन्थों की लालिका

१. अगस्त्य चूर्णि	अगस्त्यमिह स्थविर
(फोटो प्रिन्ट प्रति : सेठिया पुस्तकालय, सुजानगढ़)	- - -
२. अणु और आमा	
३. अनुयोग द्वार	आर्यरक्षित सूरि
(प्र० देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, वर्मई)	
४. अभिधान चिन्तामणि (कोश)	हेमचन्द्राचार्य
(प्र० जमवंतलाल गोरखलाल शाह,	सं० विजयकस्त्र सुरि
द रोलीफ रोड, अहमदाबाद-१)	
५. अष्टाङ्ग हृदय सूत्र स्थान	
६. आचाराङ्ग सूत्रम् (वि० सं० २००३,	अनु० मुनि सौभाग्यमलजी
प्र० श्री जैन साहित्य मिति, नवापुरा, उज्जैन)	
७. आचाराङ्ग निर्युक्ति (वि० सं० १६६१,	भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय)
प्र० श्री सिद्धिचक माहित्य प्रचारक मिति, वर्मई)	
८. आचाराङ्ग वृत्ति वि० मं० १६६१,	शीलाङ्गाचार्य
प्र० श्री सिद्धिचक माहित्य प्रचारक मिति, वर्मई)	
९. आधुनिक हिन्दी-काठव मे छन्द योजना	
१०. आवश्यक निर्युक्ति (वि० सं० १६८८,	भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय)
प्र० आगमोदय समिति, वर्मई)	
११. इतिवृत्ति (वि० सं० २०१६,	सं० भिलु जगदीश काश्यप
प्र० विहार राजकीयेन पालिपकासन मण्डल)	
१२. उत्तराध्ययन (भाग १-३, वि० सं० १६७२,	:
प्र० देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भांडागार संस्था)	
१३. उत्तराध्ययन चूर्णि (वि० सं० १६८६,	जिनदास महत्तर
प्र० श्री अृथमदेव केशरीमल श्री श्वेत संस्था, इन्दौर)	
१४. उत्तराध्ययन निर्युक्ति (भाग १-३, वि० सं० १६७२, भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय)	
प्र० देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भांडागार संस्था)	
१५. उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति (भा० १-३, वि० सं० १६७२, वेतालबादी शान्तिसूरि	
प्र० देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भांडागार संस्था)	

३२. तत्त्वार्थ भाष्य (सन् १६३२,
 (प्र० श्री परमभूत प्रभावक जैन मण्डल,
 जोहरी बाजार, बम्बई-२)
- अनु० खूबचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
 श्रीमदुमास्त्राति
३३. तत्त्वार्थ सूत्र " " "
३४. दशवैकालिक निर्युक्ति (वि० सं० १६७४,
 प्र० देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार संस्था)
३५. दसवैज्ञालिक (भा० २
 मूल, सार्थ, सटिप्पण वि० सं० २०२०,
 प्र० जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता)
३६. दसवैयालिक सूत्र (सन् १६३२,
 प्र० मेठ आनन्दजी कल्याणजी, अहमदाबाद)
३७. दशवैकालिक सूत्र : रु स्टडी (सन् १६३३,
 प्र० विलिंगटन कालेज, संगली)
३८. दशवैकालिक (हारिभद्री वृत्ति, वि० सं० १६७४,
 प्र० देवचन्द्र लालचन्द्र जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार संस्था)
३९. दीर्घनिकाय (सन् १६५८,
 प्र० विहार राजकीयेन पालिपकासन मण्डल) सं० भिष्णु जगदीश काश्यप
 (सन् १६३६, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ,
 बनारस) अनु० राहुल लोक्यत्यायन
४०. देवीनाम माला (द्वि० सं०, सन् १६३८,
 प्र० बम्बई संस्कृत सीरिज)
- आचार्य हेमचन्द्र
४१. द्वार्चिंशाष्ट द्वार्चिंशिका
४२. धर्मपद (वि० सं० १६८०,
 प्र० गुजरात पुरातत्व मन्दिर, अहमदाबाद)
- सं० धर्मानन्द कोसम्भी
४३. धर्म निरपेक्ष प्राचीन भारत की प्रजातंत्रात्मक परम्पराएँ
४४. धर्मला (पट्टखण्डागम, भा० १-६,
 वि० सं० १६६६ से २००६,
 प्र० जैन साहित्योद्धार कार्यालय, व्यमराबती)
- बीर सेनाचार्य
 सं० डॉ० हीरालाल जैन
४५. निशीथ भाष्य (प्रथम संस्करण,
 प्र० सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा) सं० उपाध्याय श्री अमर सुनि
 शुनिश्ची कन्हैयालाल “कमल”
४६. निशीथ भाष्य चूर्णि(प्र० सं०) „ „ „

४३. नंदी

(सन् १९५८, प्र० सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा) सं० सुबोध मुनि

(विंसं० १९८०, प्र० आगमोदय ममिति, बम्बई) व० आचार्य मलयगिरि

४४. नंदी वृत्ति (विं सं० १९८४,

हरिभद्र सुरि

प्र० कृष्णभद्रेष केशरीमल जैन श्री श्वेत संस्था, रतलाम)

४५. पट्टावली समुच्चयः (तपागच्छ पट्टावली, सं० मुनि दर्शनविजय

प्र० चारित्र-स्मारक यन्थमाला, अहमदाबाद)

४६. पाङ्गो-सद्व-महणव

हरगोविन्द दास त्रिकमचंद सेठ

(द्वि० सं०, वि० सं० २०२०,

प्र० प्राकृत यन्थ परिषद, वाराणसी ३)

४७. पालञ्जल ऋष्व प्रातिशास्य

४८. पालञ्जल भाष्य (सन् १९१०,

महर्षि पतञ्जलि

प्र० पाणिनि आफिस, बहादुरगञ्ज)

४९. पालञ्जल योग दर्शन (वि० सं० २०१७,

महर्षि पतञ्जलि

प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर)

५० पार्श्वनाथ का चातुर्यास धर्म

५५. पिण्ड निर्युक्ति (वि० सं० २०१८, भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय)

प्र० शासन कण्ठकोदारक ज्ञानमन्दिर, भावनगर, मौर्गाड़)

५६. पंचकल्प

५७. पंचकल्प चूर्णि

५८. पंचकल्प भाष्य

५९. पंच संग्रह

चन्द्र महर्षि

(प्र० आगमोदय ममिति श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर)

६०. प्रमाणनय तत्त्वालोक (वि० सं० १९८६,

बादिदेव सुरि

प्र० विजयधर्म सूरि यन्थमाला, उज्जैन)

सं० हिमोद्धु विजयन

६१. प्रवचन सारोद्धार (वि० सं० १९७८,

नेमिचन्द्र सुरि

(प्र० देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था)

६२. प्रशमनति प्रकरण (वि० सं० २००७,

श्रीमहामास्वाति

प्र० श्री परमभूत प्रभावक मण्डल, बम्बई)

सं० राजकुमार साहित्याचार्य

६३. भ्रक्तु उपनिषद् (वि० सं० २०१६,

मा० शंकराचार्य

प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर)

६४. प्रकल्पोत्तर तत्त्वबोध
(प्र० हीरालाल धनसुखदास आँचलिया)
६५. प्रकल्प व्याकरण (वृत्तिमह) (वि० सं० १६६५,
मुनि विमल जैन यन्थमाला, अहमदाबाद ;
धनपतसिंहजी आगम संग्रह, १०मा भाग)
६६. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (वि० सं० २०१७,
प्र० विहार राधामाणा परिषद, पटना) चिन्ह पिशल
अनु० डॉ० हेमचन्द्र जोशी
६७. प्राकृत साहित्य का इतिहास (१६००-१६६१, डॉ० जगदीशचन्द्र जैन
प्र० चौखम्या विद्याभवन, वाराणसी)
६८. बुद्ध वर्घन (चतुर्थ संस्करण)
(महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस) अनु० आनन्द कौसल्यायन
६९. बृहद्बृक्षलय सूत्रम् (भाष्य नियुक्ति महित)
(मन १६३३-३८, प्र० श्री जैन आत्मानन्द सभा,
भावनगर, सौराष्ट्र) भट्टवाहु स्त्रामी (द्वितीय)
सं० मुनि पुष्टविजययजी
७०. बौद्ध धर्म के ३५०० वर्ष ('आजकल' बार्षिक अंक
दिसम्बर, १६५६, पब्लिकेशन्स डिवीजन, दिल्ली-८) सं० पी० बी० बापट
७१. भगवती (वि० सं० १६८८,
प्र० जैन साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद) अनु० बेचरदास दोशी
अ० भ० ह० दोशी
७२. भगवती जोड़
(अप्रकाशित) श्रीमद्याचार्य
७३. भगवती वृत्ति
(प्र० आगमोदय समिति) अभयदेव सूरि
७४. भिक्षु शब्दानुशासन
(अप्रकाशित)
७५. भगवत (वि० सं० २०१८,
प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर) महर्षि वेद व्यास
७६. भिक्षुम निकाय
(१०सं० १६३३, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ)
(वि० सं० २०१५, विहार राजकीयेन सं० भिक्षु जगदीश काश्यप
पालिपकासन मण्डल)
- श्रीमद्याचार्य

७७. मनुस्मृति (सन् १६४६, प्र० निर्णय सागर प्रेस, बम्बई)	सं० नारायणराम बाच्चार्य
७८. महाभारत (प्रथम संस्करण, प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर)	महर्षि वेदव्यास
७९. मूलाराधना (टीका-विजयोदया)	अपराजित सूरि
८०. योग बिन्दु (सन् १६४०, जैन ग्रन्थ प्रकाशक संस्था, अहमदाबाद)	हरिमद्र सूरि
८१. योग शास्त्रम् (स्वीपञ्च विवरण महित) (सन् १६२६, जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर)	३८मचन्द्राचार्य
८२. दिलोजियन द जैन, ट०	अनु० डॉ० ख्यारीनो
८३. लोक प्रकाश (सन् १६३२, देवचन्द्र ल.लभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था)	विनय विजय गणि
८४. विनय पिटक (सन् १६३५, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस)	अनु० राहुल संकृत्यायन
८५. विशेषावश्यक भाष्य (बी०सं० २४८६, दिव्य दर्शन कार्यालय, अहमदाबाद)	जिनभद्रगणि क्षम श्रमण
८६. विस्वन्त जातक (जातक ख० १) (प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग)	अनु० भद्रन्त आनन्द कौमल्यायन
८७. वेदान्त परिभाषा (प्रथम संस्करण)	धर्मराजाध्यरीन्द्र
८८. वेदान्त सार	सं० श्री पञ्चानन भट्टाचार्य शास्त्री
८९. व्यवहार भाष्य (वि० सं० १६१५, प्र० वकील केशवलाल प्रेमचन्द्र, भावनगर)	संशोधक मुनि माणक
९०. व्यवहार सूत्र (वि० सं० १६८२, प्र० जैन इक्ताम्बर संघ, भावनगर)	भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय)
९१. शालिग्राम निधण्डु भूषण	
९२. जौनक ऋक् प्रातिशास्त्र	
९३. समाधि जातक	
९४. सर्वार्थसिद्धि (वि० सं० २०१२, प्र० मारतीय शानपीठ, काशी)	बाच्चार्य पूज्यपाद
९५. सुस लिपात (वि० सं० २०१६, प्र० विहार राजकीयेन पालिपकासन मण्डल)	सं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
	सं० जगदीश काश्यप

१६. सुभूत सूज स्थान
१७. सूज कृतांग (वि० सं० १६७३,
प्र० आगमोदय समिति)
१८. सूजकृतांग वृत्ति (वि० सं० १६७३,
प्र० आगमोदय समिति) अभयदेव सूरि
१९. संस्कृत इंगिलज़ छिक्सनरी (सन् १६६३,
प्र० मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी) सं० सर मोनियर विलियम्स
२०. संस्कृत निकाय (प्र० सं०,
(प्र० विहार राजकीयेन पालि पकासन मण्डल) सं० भिष्म जगदीश काश्यप
२१. स्थानांग (वि० सं० १६६४,
प्र० शेठ माणेकलाल चुनीलाल, अहमदाबाद) श्री अभयदेव सूरि
२२. स्थानांग वृत्ति (वि० सं० १६६४,
प्र० शेठ माणेकलाल चुनीलाल, अहमदाबाद)
२३. हारिभद्रीय अष्टक (वि० सं० १६५६,
प्र० भीमसिंह माणेक, निर्णय सागर छापाखाना, बम्बई) हरिभद्र सूरि
२४. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास
२५. हिन्दू दात्यतन्त्र
२६. हेमशब्दानुशासन (वि० सं० १६६२,
प्र० सेठ मनसुखभाई पांडवाड, डायमन्ड झुबली आचार्य हेमचन्द्र सूरि
- प्रिन्टिंग प्रेस, मालापोम दरवाजा, अहमदाबाद)
२७. हाला धर्मकथाङ्क (वि० सं० २००६,
प्र० मिहन्तक साहित्य प्रचारक समिति)

वीर सेवा मन्दिर

पुस्तकालय

कात न०

२

३८६१

०